DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

ARTS LIBRARY
(DELHI UNIVERSITY LIBRARY SYSTEM)

Cl No 9152 2M89 : 9 H7

Ac No 564045 Date of release f

This book should be returned on or before the date last stamped. An overdue charge of Rupee one will be charged for each d book is kept overtime

(Authority E C Res 200 dated 27th August 1996)

'प्रसाद' के नाटकीय पात्र

लेखक
पं० जगदीशनारायण दीक्षित
एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), एलएल० बी०, साहित्यरत्न
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गया कालेज, गया

भूमिका-लेखक
साहित्यरत्न स्व० पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय
एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), साहित्यशास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
सनातन धर्म कालेज, कानपुर

प्रकाशक
साहित्य-निकेतन
कानपुर

प्रकाशक:—
साहित्य-निकेतन
श्रद्धानन्द पार्क
कानपुर।

मूल्य ४)

मुद्रक:—
श्री श्री निवास गुप्त
मानस-मुद्रण, सीपरी रोड,
झाँसी।

प्रातः स्मरणीय पूज्यपिता जी

-: की :-

पुण्य-स्मृति में

सादर समर्पित

आत्म-निवेदन

प्रसाद के नाटकों पर अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे 'प्रसाद' की विविध नाटकीय विशेषताओं के दिग्दर्शन के अतिरिक्त उनके नाटकीय पात्रों के चरित्र चित्रण का भी आंशिक प्रयास किया गया है। किन्तु इस प्रकार की प्रायः सभी पुस्तकों में 'प्रसाद' के नाटकों के कुछ इने गिने पात्रों के चरित्र पर ही प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पुस्तक मे 'प्रसाद' के आठ प्रमुख नाटक 'चन्द्रगुप्त,' 'स्कन्दगुप्त,' 'अजातशत्रु,' 'जनमेजय का नाग यज्ञ,' 'राज्यश्री,' 'ध्रुवस्वामिनी', 'विशाख' और 'कामना' के पात्रों के चरित्र का स्वतन्त्र रूप में मनोवैज्ञानिक पद्धति से अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है। उपर्युक्त नाटकों के प्रायः सभी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के विशद विश्लेषण की चेष्टा की गई है, केवल उन्हीं पात्रों का चरित्र-चित्रण नहीं किया गया जो कार्य व्यापार अथवा आदर्शों की दृष्टि से नगण्य हैं।

अस्तु इस पुस्तक में जो भी विशेषतायें हैं उनका श्रेय मेरे

परम पूज्य गुरुवर पं० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग सनातन धर्म कालेज, कानपुर को है और त्रुटियों का उत्तरदायित्व मुझ पर। आपकी प्रेरणा और पथ प्रदर्शन के अभाव में इस पुस्तक का स्यात् अस्तित्व ही सम्भव न होता। इस पुस्तक के विषय-निर्वाचन एवं प्रतिपादन में मुझे पाण्डेय जी के अतिरिक्त अपने अन्य गुरुजनों यथा आचार्यप्रवर पं० केशव प्रसाद जी मिश्र, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस; पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, सनातन धर्म कालेज कानपुर तथा पं० मुंशीराम जी शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग डी० ए० बी० कालेज, कानपुर से बहुमूल्य परामर्श प्राप्त हुए। मैं इनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित कर अपने को भारमुक्त करने का अभिलाषी नहीं हूं। मुझे अपने को उनका चिरऋणी घोषित करने में ही आन्तरिक सुख और कल्याण की अनुभूति होती है।

अन्त मे मैं अपने सहृदय पाठकों से इस बात के लिए क्षमा याचना करता हूं कि इस बार प्रूफ-शोधन में जितनी शुद्धता अपेक्षित थी न हो सकी, किन्तु उन्हें यह विश्वास दिलाता हूं कि आगामी संस्करण में यदि उसका अवसर प्राप्त हुआ तो इस त्रुटि का सर्वथा परिहार कर दिया जायगा।

यह पुस्तक 'प्रसाद' साहित्य प्रेमियों एवं विद्यार्थियो का यदि कुछ भी अनुरंजन करती हुई उनके लिए उपादेय सिद्ध हो सकी तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

व्यास पूर्णिमा
वि० सं० २००४
पुराना कानपुर

जगदीशनारायण दीक्षित

विषय-अनुक्रमणिका

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—चरित्र चित्रण की शैली — १—१४

२—'चन्द्रगुप्त' — १५—५८

[चन्द्रगुप्त १५; चाणक्य २३, मिहरदेव ३१; राक्षस ३४; आम्भीक ३७; पर्व्वतेश्वर ३८; सिल्यूकस ४०; सिकन्दर ४२; नन्द ४४; वररुचि (कात्यायन) ४६; कार्नेलिया ४७; सुवासिनी ५०; कल्याणी ५२; मालविका ५५, अलका ५७]

३—'स्कन्दगुप्त' — ५९-११४

स्कन्दगुप्त ५९; भटार्क ६८, पर्णदत्त ७४; शर्वनाग ७८; बन्धुवर्मा ८१; मातृगुप्त ८४; धातुसेन ८७, मुद्गल ८९; जयमाला ९२; अनन्तदेवी ९४; देवसेना ९७; विजया १०२; रामा १०७; कमला ११०; देवकी ११२]

४—'अजातशत्रु' — ११५-१६७

[अजातशत्रु ११५; बिम्बसार १२१; प्रसेनजित् १२५; विरुद्धक १२८; उदयन १३२; गौतम १३५; देवदत्त १३८; बन्धुल १४०; दीर्घकारायण १४२; वासवी १४५; छलना १४८; मागन्धी (श्यामा) १५१; मल्लिका १५६; शक्तिमती (महामाया) १५९; पद्मावती १६१; जीवक और बसन्तक १६४]

विषय	पृष्ठ-संख्या
५—'जनमेजय का नागयज्ञ'	१६८–२०१
[जनमेजय १६८; तक्षक १७१; उत्तक १७३; काश्यप १७६ आस्तीक १७९; वासुकि १८२; माणवक १८४; सरमा १८६; मणिमाला १९१; वपुष्मा १९४, दामिनी १९६; व्यास १९९; सामश्रवा और शीला २०१]	
६—'राज्य श्री'	२०२–२२०
[राज्यश्री २०२; सुरमा २०७; शान्तिदेव (विकटघोष) २११; देवगुप्त २१५; हर्षवर्धन २१७; राज्यवर्धन २१९]	
७—'ध्रुवस्वामिनी'	२२१-२४७
[चन्द्रगुप्त २२१; रामगुप्त २२५; शिखर स्वामी २२८; शकराज २३१; मिहिरदेव २३४; ध्रुवस्वामिनी २३६; मन्दाकिनी २४१; कोमा २४५]	
८—'विशाख'	२४८-२७०
[विशाख २४८; नरदेव २५२; प्रेमानन्द २५५; महापिंगल २५८; सत्यशील २६१; सुश्रवा (नाग) २६३; चन्द्रलेखा २६५; इरावती २६८; रानी २६९; तरला २७०]	
९—'कामना'	२७१-२९५
[विलास २७१; विवेक २७६; संतोष २७९; विनोद २८१; कामना २८४; लीला २८९; लालसा २९१; करुणा २९४]	

—o—

भूमिका

कविवर 'प्रसाद' हमारे आधुनिक साहित्य-जगत् के अमर कलाकार हैं। उन्होंने अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा से हमारे साहित्य के विविध अंगो की पूर्ति और पुष्टि की है। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, चम्पू, गद्य-काव्य आदि साहित्य के सभी अंगों पर उनकी अनुकरणीय लेखनी ने अनुपम कृतियों का निर्माण किया है। भारतेन्दु के पश्चात् हमारे साहित्याकाश में 'प्रसाद' की सी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के प्रभापुन्ज से मण्डित किसी अन्य नक्षत्र का उदय नहीं हुआ। हमारे साहित्योद्यान में भारतेन्दु ने जिस नाट्य-कला का बीज-वपन किया था 'प्रसाद' ने उसे अपने आलौकिक प्रतिभा-पीयूष से सींच कर पल्लवित और पुष्पित किया। उनकी प्रौढ नाट्य-कला के परिमलमय पराग से हमारा सारा साहित्यिक वायुमण्डल आमोद पूर्ण हो रहा है। सच पूछिये तो हिन्दी के नाट्य-साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करने का सारा श्रेय 'प्रसाद' को ही है।

'प्रसाद' की नाटकीय प्रतिभा की अनेक रूपता और उत्कृष्टता का आभास साहित्य-क्षेत्र में उनके पदार्पण करते ही मिलने लगा था। काव्य की ओर विशेष अभिरुचि होते हुए

भी नाट्य-रचना की ओर उनकी आरम्भ से ही प्रवृत्ति रही है। 'अयोध्या का राजा' 'बभ्रुवाहन' आदि उनकी आरम्भिक कृतियों मे ही नाटक के प्रमुख तत्व—नृत्य, गीत और कथोपकथन-उपलब्ध होते है। 'प्रसाद' की नाटकीय प्रतिभा का उत्तरोत्तर एवं क्रमिक विकास हुआ है। 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त में उनकी जो नाट्य-प्रतिभा अंकुरित हुई थी उसी का 'विशाख' और 'राज्यश्री' में स्फुटीकरण हुआ तथा पूर्णपरिपाक 'अजात-शत्रु 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' आदि में जाकर हुआ। साहित्य साधना में साहित्य-कार की विकासोन्मुख प्रगति उसकी सतत उदीयमान प्रतिभा की परिचायक है।

'प्रसाद' ने अपने नाटकों के कथानक का कौशेय-पट प्राचीन भारत की विस्मृत और बिखरी हुई घटनाओं के सूत्रों को संकलित कर प्रस्तुत किया है। इन कथानकों को प्रस्तुत करने में उनके पाण्डित्य और प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने जिस अध्यवसाय और सूक्ष्मेक्षिका से ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन किया है वह उनके प्रखर पाण्डित्य का प्रकाशक है तथा तत्कालीन संस्कृति के वातावरण को जिस सजीवता एवं कौशल से चित्रित किया है वह उनकी प्रतिभा का परिचायक है। अतः यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' के नाटकों में प्रतिभा और पाण्डित्य दोनों का मणि-कांचन संयोग संघटित हुआ है।

नाट्य-रचना के क्षेत्र में 'प्रसाद' के पदार्पण के पूर्व

हिन्दी मे उत्कृष्ट मौलिक नाटकों का प्रायः अभाव था। 'भारतेन्दु, ने जिस तत्परता और अभिनिवेश के साथ नाटकीय क्षेत्र को अपनाया था वह उनके परवर्ती लेखकों के द्वारा प्रायः उपेक्षित ही रहा। बगला और अंग्रेजी के अनूदित नाटकों द्वारा नवीन नाट्य विधान का पथ प्रदर्शन तो किया गया है किन्तु पारसी रंगमच पर खेले जाने वाले भद्दे और कुरुचिपूर्ण नाटकों ने तो मानों श्रेष्ठ साहित्यिक नाट्य रचना पर तुषारपात ही कर दिया। इसके अतिरिक्त हिन्दी मे स्वतन्त्र रगमंच का अभाव मौलिक नाटकों की रचना मे विशेष व्याघात कारक—हुआ। ऐसी विषम परिस्थिति मे 'प्रसाद' ने नाटकीय क्षेत्र में पदार्पण कर हमारे नाट्य-साहित्य का पथ प्रशस्त किया। उनकी कारयित्री प्रतिभा ने अनेक मौलिक नाटकों की सृष्टि कर हमारे साहित्य के एक प्रमुख अंग के अभाव की पूर्ति की। सच पूछिये तो यह 'प्रसाद' की ही प्रतिभा का प्रसाद है कि आज हिन्दी में 'विशाख,' 'राज्यश्री,' 'अजातशत्रु.' 'जनमेजय का नागयज्ञ,' 'स्कन्दगुप्त' 'ध्रुवस्वामिनी,' और 'कामना,' जैसे श्रेष्ठ मौलिक नाटक उपलब्ध हैं। हिन्दी-साहित्य को 'प्रसाद' की यह देन बेजोड है।

प्रसाद, के नाटकों का महत्त्व केवल उनकी अनेकता और मौलिकता के ही कारण नहीं है, अपितु उनमें चित्रित मानव—जीवन की अनेकरूपता एवं विशदता के कारण भी हैं। उनकी साहित्य-साधना में मानवजीवन की गहन अनुभूतियाँ अत्यन्त कलात्मक रूप से अभिव्यक्त हुई हैं। उनके चरित्र-चित्रण में

समता और विषमता दोनों उसी प्रकार लिपटी हुई हैं-"चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुंज में जैसे।" उनके पात्रों में अलौकिकता के साथ ही स्वाभाविकता का भी पूर्ण सन्निवेश है। उनके आदर्श वाद में यथार्थवाद का समुचित सामंजस्य है। उनके नाट्य-विधान में उनकी अपनी मौलिक विशेषता है। अपनी नाट्य-रचना मे 'प्रसाद' ने प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रणालियों का सुन्दर समन्वय किया है। जहाँ उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय रस-पद्धति का अनुसरण करते हुए भावुकता और कवित्व का अपेक्षाकृत अधिक समावेश किया है वहीं पाश्चात्य नाट्य-शैली के आधार पर चरित्र-चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व एवं घटनाओं का घातप्रतिघात भी उपस्थित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक स्थलों पर उनके कवित्व ने नाटकीय तत्व को आक्रान्त कर लिया है, फिर भी उनका चरित्र-चित्रण-कौशल अद्वितीय है। जिस प्रकार उन्होंने नाट्यशास्त्र की पंच-अवस्थाओं तथा पंच-संधियो का अपने नाटकों मे निर्वाह किया है उसी प्रकार पाश्चात्य पद्धति पर दृश्य—योजना और अंक-विधान भी किया है। उनके अधिकाश नाटकों की परिणति का विषय विवादास्पद है। कुछ लोग उन्हें सर्वथा सुखान्त अथवा दुःखान्त न मानकर 'प्रसाद' की स्वतन्त्र शैली के अनुसार प्रसादान्त मानते हैं। किन्तु 'प्रसाद' के आदर्शवाद के महत्व को स्वीकार करते हुये हम उनके प्रायः सभी नाटकों को भारतीय परम्परा के अनुसार सुखान्त ही मानेंगे। 'प्रसाद' के आदर्श सर्वथा आधिभौतिक न होकर रहस्योन्मुख हैं। अतः यदि उनके नाटकों की परिणति आधिभौतिक सुख की उपेक्षा कर आध्यात्मिक आनन्द

की उपलब्धि में ही चरितार्थ हो तो उसे हम दुःखान्त नहीं कह सकते —आधिभौतिक परिणाम के अभाव में भी आध्यात्मिक आदर्श की उपलब्धि सुखान्त की ही परिचायक मानी जायगी।

हिन्दी साहित्य में 'प्रसाद' के नाटकों पर अनेक आलोचनाये प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमे उनकी विविध नाटकीय विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया। किन्तु 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में जिन विविध मानवीय चरित्रों की अवतारणा की है उन पर स्वतन्त्र और विस्तृत विश्लेषण यथेष्ट रूप मे नहीं प्राप्त होता। प्रस्तुत पुस्तक में इसी अभाव की पूर्ति की गई है। इसके विद्वान लेखक पं० जगदीशनारायण दीक्षित ने 'प्रसाद' जी के सभी नाटकों के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण इसमे एकत्र उपस्थित किया है। लेखक ने इसमें बड़ी मार्मिकता एवं सहृदयता के साथ मनोवैज्ञानिक पद्धति से पात्रों का यथावत चरित्र-विश्लेषण किया है। इस पुस्तक की यह एक विशेषता है कि 'प्रसाद' के नाटकीय पात्रों के चरित्र चित्रण में जो भी तथ्य निरूपित किये गये हैं उनकी पुष्टि मे उपयुक्त उद्धरण भी प्रचुर परिमाण मे दे दिये गये हैं। इससे पुस्तक की उपादेयता और प्रामाणिकता बहुत बढ़ गई है। लेखक पात्रों के अन्तस्तल बैठ कर उनके चरित्र का उद्‌घाटन करने में पूर्ण सफल हुआ है। हिन्दी में एकमात्र चरित्र-चित्रण विषयक यह अपने ढंग की प्रथम पुस्तक है। मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ से न केवल परीक्षार्थी विद्यार्थियों का ही उपकार होगा अपितु साधारण

पाठकों का भी अनुरंजन एवं ज्ञानवर्धन होगा। ऐसी सर्वांग-सुन्दर पुस्तक लिखने के लिए लेखक का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी संसार इस ग्रन्थ रत्न का समुचित आदर करेगा।

सनातन धर्म कालेज
कानपुर
५-१-४७

चन्द्रशेखरपाण्डेय

चरित्र-चित्रण की शैली

मानव मनोवृत्तियों का यथावत् एवं सूक्ष्म चित्रण ही नाटक का प्रधान लक्ष्य है। यदि यह कहा जाय कि चरित्र चित्रण ही नाटक का प्राण है तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। नाटकीय पात्रों का चरित्र मानव हृदय की विभिन्न अनुभूतियों, जीवन की विविध दशाओं तथा अनेक लोकादर्शों का संवहन करता है। मिस्टर हेनरी आर्थर जोन्स का यह कथन सर्वथा समीचीन एवं सम्मान्य है। "Story and incident and situation in theatrical work are, unless related to character, comparatively childish and unintellectual"

अर्थात् जब तक नाटकीय कथानक, घटनाएं, और परिस्थितियाँ चरित्र से सम्बद्ध नहीं होतीं, तब तक कोई भी नाटक अपेक्षाकृत दृष्टि से बुद्धिहीन बाल-प्रयास ही माना जायगा। वास्तव में चरित्र चित्रण ही नाटकों का अनिवार्य और स्थायी तत्व है और उसी से उनकी महत्ता और गौरव प्रकट होते हैं। शेक्सपियर के नाटकों का स्थायित्व और महत्व कथानकों की अनेकरूपता और विशेषताओं के कारण नहीं है वरन् वह उन नर नारियों के चरित्रों के कारण है जो उनमें अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ अंकित हैं; और इसी से वे अंग्रेजी साहित्य की अमर निधि हैं।

'प्रसाद' के नाटक हिन्दी साहित्य के अनुपम रत्न हैं। उनमें कथानकों की विशेषता, मनोहर दृश्य विधान, संस्कृति और आदर्शों का सम्यक् निदर्शन, भावपूर्ण कथोपकथन तथा सरस संगीत आदि के अतिरिक्त सबसे बड़ी आकर्षण एवं प्रभाव की वस्तु सजीव चरित्र चित्रण हैं।

'प्रसाद' जी आधुनिक हिन्दी साहित्य के महान कलाकार थे। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने उच्चकोटि के काव्य, उपन्यास, आख्यायिका और नाटकों से हिन्दी साहित्य के भँडार की श्रीवृद्धि की। उनकी अधिकांश

रचनाएँ अनुभूति की गहनता और अभिव्यक्ति की उत्कृष्ट कलात्मकता से साहित्यिकों का कंठहार हैं, तथा उनके नाटक ऐतिहासिक कथानकों एवं सजीव चरित्र-चित्रण द्वारा लोक रुचि को अपनी ओर आकृष्ट करने में विशेष सफल रहे। वस्तुतः 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में ऐसे पात्रों की सृष्टि की जो अमर हैं तथा इसके कारण निर्देश में हम प्रो० नगेन्द्र जी के इस कथन से सहमत हैं कि 'प्रसाद' में "पात्रों में प्राण फूंक देने वाली प्रतिभा की सजीवता अद्वितीय थी।"

'प्रसाद' के गम्भीर एवं भावुक व्यक्तित्व की छाप उनके अधिकाँश पात्रों पर है। सुख दुख की धूप छांह में उन्होंने जीवन की जो वास्तविकता देखी वह उनके पात्रों के चरित्र में आदर्श रूप से वर्तमान है। 'प्रसाद' के दार्शनिक चिन्तन का आधार बौद्ध दर्शन और उपनिषदों का स्वाध्याय-जन्य ज्ञान था। उनकी भावुकता का स्रोत जीवन का सतत संघर्षमय प्रवाह था। हम उनके पात्रों के चरित्र विकास में उनकी इसी दार्शनिकता और कोमल भावुकता का मणिकांचन संयोग पाते हैं। 'प्रसाद' की दार्शनिकता मानव-हृदय संवेद्य है। उसमें भावुक कोमलता का समन्वय होने से कोरी दार्शनिकता की भाँति रूखापन नहीं है। उनके दार्शनिक आदर्श, पात्रों के व्यक्तित्व में क्रियमाण होकर, सवाक् एवं सरूप हैं। उनकी मुखर से मुखर दार्शनिक उक्तियाँ कोरे उपदेश पाठ नहीं हैं। अनुरूप व्यापार से समन्वित होने के कारण उनमें हृदय के छोर तक पहुँचने की शक्ति है। उनके गौतम की यह वाणी झांझ की कोरी झनकार नहीं है—"शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करते रहना चाहिये। दूसरों की ओर उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है।" मागन्धी की वासनामयी द्वेषी प्रकृति को पहिचान कर भी गौतम उसकी ओर से उदासीन नहीं होते, सत्कर्म की प्रेरणा से वे मरणप्राय दशा में संज्ञा दान दे 'निर्वैरः सर्व भूतेषु' सिद्धान्त को साकार रूप देते हैं। 'प्रसाद' के आदर्श "उपकार, करुणा, समवेदना, और पवित्रता, मानव हृदय के लिए ही बने हैं।" इन आदर्शों को चंपित करने वाली देवी मल्लिका स्वयं

इनका मूर्ति मान रूप हो जीवन मे चरितार्थ करती है। अतः उनके आदर्शों का प्रभाव मानव-मस्तिष्क तक ही न परमित रहकर मानव-हृदय को स्पर्श करता है। 'प्रसाद' का आदर्श इस पृथ्वीतल पर ही स्वर्ग की कल्पना करता है। वे इस 'जले जगत को वृन्दावन' के रूप में देखने के अभिलाषी हैं। उनकी ये कल्पनाएँ केवल मौखिक न रह कर पात्रों के रूप में मूर्तिमती हा उठी हैं। मल्लिका, देवकी, राज्यश्री, देवसेना आदि नारी रूप में इस जगत की देवियां हैं। गौतम, वेदव्यास, आस्तीक, स्कन्दगुप्त, प्रेमानन्द, प्रख्यातकीर्ति आदि के मनुष्य-कलेवर में देवत्व झांक रहा है। 'प्रसाद' की दार्शनिकता उनके नाटकों का बोझ नहीं है। वह उनके अधिकांश पात्रों के मनुष्यत्व के भार को ढोकर उन्हें देवत्व की भूमि पर पहुंचाती है। उपयुक्त पात्रों के आदर्श चरित्रों में 'प्रसाद' की कल्पना अपना नीड़ बनाकर इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग की अवतारणा करती है। देवसेना के कण्ठ में बैठ कर 'प्रसाद' इसे स्पष्ट घोषित करते हैं। "जहाँ हमारी कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है वही स्वर्ग है। वह इस पृथ्वी पर हो है।" 'प्रसाद' क आदर्शों का नीड़ उनके कल्पित आदर्श पात्रों का चरित्र है। उस नीड़ में मनुष्यत्व की सजीवता ताथ देवत्व की स्निग्ध सुखद छाया या विश्रान्ति है।

आदर्शों के लिए 'प्रसाद' ने पात्रों की ऐतिहासिकता विकृत नहीं की है। उनके नाटक ऐतिहासिक होकर भी इतिहास नहीं हैं। उनमें अक्षरशः ऐतिहासिक सत्य ढूँढ़ना निरर्थक प्रयास है। इतिहास की पृष्ठभूमि पर उन्होंने पात्रों के व्यक्तित्व में आदर्शों की प्रतिष्ठा और उनका व्यापार सामञ्जस्य किया है। इसी से उनके पात्रों के मनुष्यत्व में देवत्व चमक उठा है।

'प्रसाद' के आदर्श आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के हैं। करुणा, प्रेम, परोपकार, क्षमा, अहिंसा, उदारता आदि उनके विविध आदर्श मनुष्य का लौकिक कल्याण कर उसका आध्यामिक स्तर समुन्नत करते हैं। उनके पात्रों पर आदर्शों का प्रयासपूर्ण आरोप नहीं हैं। उनकी

अभिव्यक्ति जीवन व्यापारों में है । इसी में उनका सौन्दर्य है । 'प्रसाद' के पात्रों के सम्बन्ध में यह आरोप है कि वे दुहरा व्यक्तित्व होते हैं अर्थात् उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व विकास के अन्तर्गत आदर्शों का आरोप और उनका निर्वाह उन्हें बोझिल कर उनके ऊपर दुहरी जिम्मेदारी लादता है। यह आरोप युक्तियुक्त नहीं है। 'प्रसाद' के पात्र आदर्शोन्मुख हैं। और वे उनकी प्राप्ति अन्तर्द्वन्द्व के विकास और घटनाओं के घात प्रतिघात द्वारा करते हैं। अतः उनका चरित्र-विकास कृत्रिम न होकर मनोवैज्ञानिक आधार पर है । यहाँ पर अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं के घात-प्रतिघात से होने वाले चरित्र विकास की मनोवैज्ञानिक प्रणाली का परिचय देना कदाचित अप्रासंगिक न होगा ।

मनुष्यों के अन्तःकरण में सदा दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष होता रहता है । कभी-कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं । जैसे उत्तर रामचरित्र में राम के समक्ष राजा के कर्त्तव्य और पति के कर्त्तव्य के बीच संघर्ष छिड़ता है । 'प्रसाद' के नाटकों में पात्रों के चरित्र का विकास दोनों प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा है। भटार्क, शर्वनाग, आम्भीक, शान्तिदेव जनमेजय आदि सत् और असत् प्रवृत्तियों से अन्तर्द्वन्द्व करते हुए जीवन में आगे बढ़ते हैं और सत् को ग्रहण करते हैं। सत्प्रवृत्तियों का पारस्परिक विरोध चाणक्य और देवसेना के चरित्र में है। दोनों में ही प्रेम और लोकहित के बीच द्वन्द्व छिड़ता है और दोनों ही समष्टिरूप लोक-हित के लिए व्यष्टिरूप प्रेम के प्रबल मनोभाव का बलिदान कर अमर हो जाते हैं। द्वन्द्व में ही जीवन सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है । इससे विहीन जीवन शून्य और मृतक तुल्य है।

नाटकों में घटनाओं का घात-प्रतिघात भी सदैव होता रहता है । जीवन की गति वक्र रहती है। उसका स्रोत एक ओर बहता है, किन्तु वह धक्के पर धक्के खाते विविध दिशाओं की ओर उन्मुख होता है। जीवन का यह प्रवाह स्वाभाविक और यथार्थ है । 'प्रसाद' के चरित्रों का आदर्शोन्मुख विकास इसी प्रकार का है। भटार्क, विरुद्धक, शान्तिभिक्षु

उत्तंक, सुवासिनी विशाख, आदि विविध प्रमुख पात्र घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा जीवन में आदर्शों की ओर अग्रसर होते हैं और उनसे उनके चरित्र का सौन्दर्य विकसित होता है।

शेक्सपियर के नाटकीय पात्रों की भाँति 'प्रसाद' के पात्रों में व्यक्तित्व की विविधता और अनेकरूपता नहीं है। गुण एवं वृत्ति साम्य के कारण उनके बहुत से भिन्न भिन्न नाटकों के पात्र एक ही कोटि (Type) के प्रतीत होते हैं। 'प्रसाद' ने अपने कतिपय आदर्शों एवं जीवन सिद्धान्तों के साँचे में प्रथक् प्रथक् नाटकीय पात्रों को ढाला है। गौतम वेदव्यास, दाण्ड्यायन, सुएनच्वांग प्रख्यात कीर्ति आदि समान रूप से सर्वभूत-हित विश्वप्रेम, करुणा, अहिंसा और विरक्तिपूर्ण भावना का आदर्श व्यवहार एवं उपदेश प्रचार करते हुए पाए जाते हैं। मल्लिका, देवकी, राज्यश्री, सुरमा आदि एक ही प्रकार से क्षमा प्रेम, उदारता और निर्वैर भावना की अभिव्यक्ति करती रहती हैं। इनके चरित्र विकास में आद्योपान्त विविध आदर्शों का सम्पूर्ण चित्र वर्तमान है। मानव हृदय की विभिन्न वृत्तियों की व्यंजना इनके व्यक्तित्व में बहुत कम हुई।

'प्रसाद' के नाटकों में ऐसे भी पात्रों का अभाव नहीं हैं जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण अपने ढङ्ग के एक ही हैं। देवसेना और चाणक्य, का चरित्र ऐसा ही है। प्रणय के अनन्य उज्ज्वल भाव की आजीवन साधना करने वाली और अन्त में त्याग की बलिवेदी पर उस प्रणय की आहुति अर्पित करने वली देवसेना की-सी दूसरी नारी-सृष्टि 'प्रसाद' के नाटकों में नहीं है। इसी प्रकार कठोर कर्मक्षेत्र में बुद्धि-बल और अध्यवसाय से प्राप्त सम्पूर्ण फल-त्याग चाणक्य के चरित्र में अद्वितीय रूप से चित्रित है। 'प्रसाद' के नाट्य-जगत के ये अप्रतिम चरित्र हैं।

— 'प्रसाद' अपने आदर्शपूर्ण पात्रों का विकास आदर्शों का प्रतिपक्ष रखकर करते हैं। किसी पक्ष का सौन्दर्य उनके प्रतिपक्ष के सामने होने पर ही यथार्थ रूप में आँका जा सकता है। 'प्रसाद' देवसेना द्वारा मानों इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति कराते हैं— 'पवित्रता की माप है

मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप''।

हम उनके आदर्श-विरोधी या प्रतिपक्षी पात्रों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वर्ग तो उन पात्रों का है जो संस्कारों के प्रभाव से अथवा परिस्थितियों की प्रेरणा से आरम्भ में आदर्श विरोधी मार्ग ग्रहण करते हैं, किन्तु घटनाओं के घात-प्रतिघात से, एवं आदर्श पात्रों के सम्पर्क से अन्त में वे आदर्शोन्मुख मार्ग का अवलम्बन करते हैं। भटार्क, शान्तिभिक्षु, आम्भीक, शर्वनाग, तक्षक, नरदेव, विरुद्धक आदि का चरित्र-विकास इसी कोटि का है। दूसरे वर्ग के आदर्श-विरोधी पात्र वे हैं जो आरम्भ से अन्त तक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते हुये पाप और कलङ्क की कलुषित छाया में अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। प्रपञ्च-बुद्धि, काश्यप, विजया, नन्द, शकराज, रामगुप्त, महापिङ्गल, देव गुप्त आदि पात्रों को इसी दूसरे वर्ग के अन्तर्गत समझना चाहिए। ये आरम्भ से अन्त तक हिंसा, छल, प्रतारणा, प्रवञ्चना, क्रूरता एवं पाखण्ड का निरन्तर आचरण करते हुए अपने जीवन का अन्त करते हैं। आदर्शों का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही प्रतिपक्ष में इन निकृष्ट पात्रों की अवतारणा की गई है। "पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख पुण्य की कसौटी है पाप।"

'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। केवल 'कामना' और 'एक घूँट' ही इसके अपवाद हैं। भारतीय इतिहास पर आश्रित उनके विविध नाटकों के नायक इतिहास प्रसिद्ध राजपुरुष हैं। केवल 'विशाख' का नायक एक स्नातक है। 'प्रसाद' ने अपने अधिकांश नाटकों का नामकरण उनके नायकों के नाम पर किया है, इससे भी समझने में सरलता होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' और 'राज्यश्री' नायिका प्रधान नाटक हैं तथापि इनके भी नायक क्रमशः चन्द्रगुप्त और हर्षवर्धन इतिहास प्रसिद्ध राज-पुरुष हैं।

'प्रसाद' के अधिकांश नाटकों के नायक धीरोदात्त हैं। धनञ्जय ने दशरूपक में धीरोदात्त नायक के लक्षणों का परिचय इस प्रकार दिया है:—

"महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तोदृढव्रतः ॥"

अर्थात् धीरोदात्त नायक शोक क्रोधादि से अनभिभूत अन्तःकरण वाला, गम्भीर, क्षमावान, अनात्मश्लाघी, दृढ़व्रत, धैर्यवान और विनय आदि से युक्त होता है।

स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, (मौर्य) जनमेजय, हर्षवर्धन, विशाख और 'ध्रुवस्वामिनी' के नायक चन्द्रगुप्त में इनमें से अधिकांश गुण हैं। अतः हम इन्हें धीरोदात्त नायक कह सकते हैं। अजातशत्रु का नायक भिन्न कोटि का है। उसमें हम आरम्भ से ही अहंकार, दर्प, चञ्चलता आदि देखते हैं। धनञ्जय ने धीरोद्धत नायक के जो लक्षण दिये हैं उनमें से अधिकांश हमें अजातशत्रु में मिलते हैं। धनञ्जय द्वारा धीरोद्धत नायक की व्याख्या इस प्रकार है—

दर्प मात्सर्य भूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धत स्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः।

अर्थात् दर्प, असहनशीलता, अहंकार, आत्मश्लाघा, मायावी, छल-पूर्ण और चञ्चल होना ये धीरोद्धत नायक के लक्षण हैं। अजातशत्रु के चरित्र में इनमें से अधिकांश का समावेश है अतः उसे हम धीरोद्धत नायक कह सकते हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में नायक का विरोध प्रायः राजनीति के क्षेत्र में दिखाया गया है। केवल 'ध्रुव स्वामिनी' में चन्द्रगुप्त और रामगुप्त का पारस्परिक विरोध राजनीतिक होने के साथ साथ प्रणयात्मक भी है। दोनों में विरोध गुप्त-साम्राज्य की राजनीति की पृष्ठ भूमि पर है, साथ ही में वह ध्रुव-स्वामिनी का प्रणय मूलक भी है। 'स्कन्दगुप्त' में पुरगुप्त और भटार्क आदि मगध के सिंहासन प्राप्ति के लिए ही स्कन्दगुप्त का विरोध करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में नायक का विरोध मगध राजसिंहासन के लिए अथवा विदेशियों से आर्य्यावर्त्त की रक्षा के लिए है। चन्द्रगुप्त का नन्द,

आम्भीक, राक्षस, सिकन्दर और सिल्यूकस आदि से इसीलिए संघर्ष होता है। 'राज्य श्री' का हर्षवर्धन राजनैतिक कारणों से नरेन्द्रगुप्त और देवगुप्त से युद्ध करता है। जनमेजय का विरोध तक्षक, नाग-जाति के राजनैतिक उत्थान के लिए ही करता है। तक्षक द्वारा जनमेजय की स्त्री वपुष्टमा का अपहरण प्रणय-प्रेरित न होकर प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा मूलक है। इससे 'प्रसाद' के नाटकों मे इतिहास के विभिन्न कालों का चित्रण होने के कारण तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का निदर्शन प्रमुख रूप से हुआ है। उनके नाटकों मे शृङ्गार और प्रेम का भी चित्रण है। पर वह प्राय. उनका गौण ही विषय है। प्रेम संघर्ष का प्रेरक नहीं है। 'चन्द्रगुप्त' मे कार्नेलिया का प्रणय चन्द्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व का कारण है पर वह एक सामान्य घटना के रूप मे है जो रङ्गमञ्च पर प्रत्यक्ष रूप मे दिखाया भी नहीं गया है। केवल 'ध्रुव स्वामिनी' और 'विशाख' मे प्रतिद्वन्द्विता का कारण प्रेम है। रामगुप्त का चन्द्रगुप्त की वाग्दत्तापत्नी ध्रुवस्वामिनी से परिणय, पारस्परिक विरोध और राजनैतिक विरोध का कारण बनता है। विशाख' मे तो प्रेम ही संघर्ष का प्रधान कारण है। चन्द्रलेखा का रूप सौन्दर्य विशाख और नरदेव के बीच संघर्ष की सृष्टि करता है। विशाख' और ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद' के प्रणय-संघर्ष मूलक (Romantic) नाटक कहे जा सकते हैं।

नारी-जीवन के चरित्रांकन मे 'प्रसाद' को विशेष सफलता मिली है। उनके स्त्री पात्रों मे, नारी-हृदय की दो विभिन्न कोटियों की वृत्तियों का विशद चित्रण हुआ है। एक तो है—सतोगुण मूलक करुणा, विनय, प्रेम, सहानुभूति, उदारता, आत्मसमर्पण, क्षमाशीलता, वात्सल्य, उत्सर्ग, नम्रता आदि की; दूसरी है—वैभव, वासना, विलास कुटिलता और क्रूरता आदि की। राज्यश्री, मल्लिका, वासवी, रामा, देवसेना, देवकी, कार्नेलिया, मणिमाला, वपुष्टमा, चन्द्रलेखा, आदि प्रथम कोटि की हैं। सुरमा, विजया, मागन्धी, अनन्तदेवी, दामिनी आदि द्वितीय कोटि की हैं। राज्यश्री आदि सतोगुणी नारी पात्र विश्वमैत्री, करुणा, और प्रेम का सिद्धान्त मौखिक

रूप से ही अभिव्यक्त न कर अपने आचरणों द्वारा उनके ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करती हैं। राज्यश्री और मल्लिका अपने पतियों के हत्यारों को क्षमादान कर विपत्ति पड़ने पर उल्टे उनकी सहायता के लिए अग्रसर होती हैं। वासवी अपने सौतेले पुत्र अजातशत्रु की दुर्विनीतता से क्षुब्ध न होकर सदैव सच्चे मातृत्व का परिचय देती है। देवकी, स्वयं उसके वध की चेष्टा करने वाले शर्वनाग और भटार्क-आदि को क्षमा-दान करती है तथा अपनी सौत अनंतदेवी और उसके पुत्र पुरगुप्त के प्रति कोई दुर्भाव नहीं व्यक्त करती। देवसेना अपने प्रियतम स्कंदगुप्त को अपनी प्रतिस्पर्धिनी विजया के हाथ सौंपकर भी उससे कभी द्वेष नहीं प्रकट करती। इसी प्रकार वे नारियाँ हैं जो वैभव और वासना की अतृप्ति से आकुल हो जीवन की दौड लगाती हैं। उनका चरित्रांकन भी अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक हुआ है। मागन्धी वैभव और विलास की वासना से जीवन मे अनेक रूप धारण करती है। विजया विलास और वैभव की आकांक्षा से ही स्कन्दगुप्त, भटार्क, पुरगुप्त आदि भिन्न भिन्न पुरुषों को वरण करती फिरती है। सुरमा कभी देवगुप्त और कभी विकटघोष के क्रोड का आश्रय लेती है। दामिनी वेद की परिणीता भार्या होने पर भी उत्तङ्क और तक्षक को अपने विलास—पाश में बाँधने के लिये आतुर है।

प्रेम नारी–हृदय का सहज सात्त्विक भाव है, किन्तु उसका संयम अत्यावश्यक है। संयम के साचे मे उसका सौन्दर्य व्यक्त होता है। देवसेना, कल्याणी, कोमा, कार्नेलिया, राज्यश्री, मणिमाला आदि के प्रेम का सौन्दर्य, संयम के कारण निखर पड़ा है। संयमविहीन प्रेम विलासिता और उच्छृंखलता है। वह संयम के अभाव मे हिंसा, छल, क्रूरता, कुटिलता आदि का उत्पादक और पोषक हो जाता है। सुरमा, विजया, मागन्धी, दामिनी आदि का प्रेमभाव आत्मसंयम के बांध को तोड़ कर उच्छृंखलता और विलासिता के गहरे गर्त में जा पड़ता है। 'प्रसाद' की दृष्टि में संयमपूर्ण प्रेम ही श्रेयस्कर है। उसमें ही जीवन का कल्याण और सुख–शान्ति निहित है। उस पावन प्रेम–गङ्गा मे अवगाहन करने से मानव मनःपूत हो

जाता है। 'प्रसाद' के प्रणय चित्रों के अन्तस्तल में विश्वप्रेम की यही मूल-धारा प्रायः सर्वत्र देख पड़ती है।

'प्रसाद' के स्त्री-पात्रों में प्रेम के अतिरिक्त मानव-हृदय की अन्य उदात्त वृत्तियां भी चित्रित की गई हैं। जातीय गौरव, राष्ट्रप्रेम, और विश्व कल्याण-कामना आदि उदात्त वृत्तियों से उनकी नारियाँ गौरवान्वित हैं। वे अपनी सत्प्रेरणा से पुरुषों का भी प्रोत्साहन और मार्ग प्रदर्शन करती हैं। अलका राष्ट्रप्रेम की सजीवमूर्ति है। वह अपनी ओजमयी वाणी से समस्त आर्य्यावर्त्त में राष्ट्रीयता की एक लहर दौड़ा देती है। वह अपने देशद्रोही भाई आम्भीक के हृदय मे पूर्व-कृत कर्मों के लिए अनुताप तथा साहस और सच्ची देशभक्ति प्रस्फुटित करती है। देवसेना अपनी प्रभावोत्पदक सङ्गीत-लहरी से भारत के बच्चे-बच्चे के हृदय मे सोया हुआ देशप्रेम जगाती फिरती है। मनसा नाग जाति को जागरण पाठ का पढ़ाती हुई उन मे जातीयता को सजग और सचेष्ट करती है।

नारी का सतीत्व और आत्मसम्मान उसकी सबसे बड़ी सम्पदा है। भारतीय नारी उसकी रक्षा के लिए सदा से ही प्राण-पण से सचेष्ट रही है। 'प्रसाद' का नारी-समाज सतीत्व और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अपना समस्त साहस बटोरकर परिस्थितियों का वीरतापूर्वक सामना करता है और अवसर पड़ने पर अपने प्राणों की बलि भी चढ़ा देता है। देवसेना आत्मरक्षा के लिए छुरी सदैव पास रखती है और अन्तःपुर के द्वार पर आत्मसम्मान की रक्षा के लिए शत्रुओं से लोहा लेती है। राज्यश्री अपने हृदय की समस्त कोमलताओं को दबाकर आततायी देवगुप्त पर खड्ग से प्रहार करती है। वह नीच देवगुप्त के कारागार मे रहकर भी उसके प्रणय प्रस्ताव को निर्भीकतापूर्वक ठुकरा देती है। मनसा जातिसम्मान, और जाति रक्षा के लिए स्वयं खड्गहस्त हो संग्राम भूमि में जाती है। अलका दुर्गरक्षा में सन्नद्ध हो दुर्गारोहिण करने वाले ग्रीक योद्धाओं को मारती है और स्वयं सिकन्दर पर वाण-वर्षा करती है। कल्याणी सतीत्व और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए पर्वतेश्वर की हत्या करती है।

'प्रसाद' के नाटकों में नारी का राजनैतिक महत्व कुछ कम नहीं है। छलना की प्रेरणा से अजातशत्रु कोशल पर आक्रमण करता है, अनन्तदेवी गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुञ्जी ही कुछ समय तक अपने हाथों में रखती है; वह विदेशियों से सन्धि और विग्रह का कार्य्य कर भारतीय राजनैतिक वायुमण्डल को बहुत समय तक क्षुब्ध रखती है। जयमाला की स्वीकृति पर मालव के सिंहासन पर स्कन्दगुप्त बैठता है। कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त से परिणय ग्रीक और भारतीयों में चिरमैत्री का कारण होता है। इसी प्रकार मणिमाला का जनमेजय से विवाह-सम्बन्ध नागजाति और आर्य्यों को स्थायी सम्बन्ध-सूत्र में बांधता है।

नारी जीवन का आदर्श 'प्रसाद' ने अजातशत्रु के तृतीय अङ्कस्थित चतुर्थ दृश्य में विस्तारपूर्वक अंकित किया है—"(नारी) राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की सकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप। ×××××× क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।" इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि समस्त पुरुष कठोर एवं क्रूर है और नारी कोमल एवं करुण है। कठोरता एवं कोमलता पुरुष और नारी के क्रमश: सामान्य गुण धर्म हैं। इसके अपवाद भी अनेक हो सकते हैं। पर आदर्श स्थिति यही है। कोमल एवं करुण भावापन्न नारी की गोद में, वैभव एवं विलास की भावनाओं में मदान्ध तथा क्रूरता और कुटिलता की प्रतीक किसी अन्य स्त्री का ही संतप्त हृदय शान्त नहीं होता, अपितु पुरुष भी उसमें चिरकल्याण खोजता है। विरुद्धक और प्रसेनजित मल्लिका की शरण में आकर उसकी करुणा से विश्रान्ति पाते हैं। अनन्तदेवी और छलना क्रमश: देवकी और वासवी की क्षमामयी मूर्ति के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचानती है। अत; 'प्रसाद' की नारी सृष्टि एक स्वर्गिक सुषमा से मण्डित तथा अपूर्व गरिमा से गौरवान्वित है। आदर्श

के उत्तुङ्ग शिखर पर प्रतिष्ठित होकर भी वह जीवन के धरातल पर विचरण करती है। यही है उनके नारी जीवन का रहस्य।)

चरित्रांकन नाटक का एकाधिकार नहीं है। साहित्य जीवन से, जीवन की और जीवन के लिए व्याख्या है। अतः उसके अन्य अंगों में भी हम मानव चरित्र का निदर्शन पाते हैं। उपन्यास आख्यायिका एवं काव्य में उनका रचयिता कथोपकथन और व्यापार के द्वारा पात्रों का चरित्र विकास दिखाता है पर साथ ही वह उनका मानसिक विकास एवं गुण दोषादि का, प्रत्यक्षरूप से भी कथन करने लगता है। नाटककार को इस प्रकार की कोई सुविधा नहीं है। वह तो परोक्ष में ही सर्वथा रह कर पात्रों के पारस्परिक सम्भाषणों एवं कार्य्य-व्यापार की नाटकीय योजना द्वारा उनका चरित्रांकन करता है। नाटकों में किसी पात्र के सम्बन्ध में कही गई अन्य पात्रों की उक्तियाँ उसके चारित्र्योद्घाटन में सहायक होती हैं। स्वगतोक्तियों के द्वारा भी पात्र अन्तर्जगत में उठने वाले भावों और विचारों का परिचय सामाजिकों को यदा कदा करा देते हैं जिससे उनका चरित्र विशेष स्फुट होता है। अन्य पात्रों द्वारा गुण—दोष कथन अथवा स्वगतोक्तियाँ नाटकों में अल्प मात्रा में होती है। अत, वे सहायक रूप चाहे भले ही हों, चरित्रांकन का उन्हीं पर सर्वथा अवलम्बित होना सम्भव नहीं है। नाटकों में कथोपकथन और कार्य—व्यापार ही चरित्र—चित्रण का मुख्य साधन है। नाटकों में सफल चरित्रांकन के लिए कथोपकथन संक्षिप्त प्रभावोत्पादक एवं घटना-व्यापार को विकसित करने वाले होना चाहिए संवादों के अधिक बड़े हो जाने से व्यावहारिक यथार्थता न्यून हो जाती है।

'प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में अधिकांश सम्वाद प्रभावोत्पादक हैं। वे पात्र के चरित्र—विकास और कथानक के विस्तार में यथेष्ट सहायता देते हैं। उनके नाटकीय पात्र परस्पर के सम्भाषणों एवं कार्यों से अपने मनोगत विचारों का परिचय देकर अपना व्यक्तित्व प्रकट करते हैं। संवादों में सजीवता पर्य्याप्त है। किन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उनके

संवाद कहीं कहीं अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गए हैं। अत: वे चरित्र विकास अथवा घटना-व्यापार की दृष्टि से अनावश्यक प्रतीत होते हैं। इसका कारण 'प्रसाद' की उत्कृष्ट दार्शनिकता एवं सरस भावुकता है। किसी दार्शनिक भाव की अभिव्यक्ति में वे समस्त तर्कों को एक साथ व्यवहृत करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ किसी आदर्श सम्बन्धी उनकी सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधारा जीवन व्यापारों द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकती वहाँ भावातिरेक के साथ विस्तारपूर्वक कथोपकथन द्वारा उसे प्रकट किया गया है। यही बात-उनकी भावुकता के सम्बन्ध में लागू होती है। उनके अधिकांश नाटकों में भावुक पात्र कल्पना-युक्त भावुक उक्तियों से संवादों में अनावश्यक विस्तार करते हैं। विवादपूर्ण दार्शनिक संवादों के उदाहरण 'स्कंदगुप्त' के चतुर्थ अंकस्थित ब्राह्मण-बौद्धसंघर्ष में, 'अजातशत्रु' में शक्तिमती-दीर्घकारायण संवाद में, 'चन्द्रगुप्त' में मालव के युद्ध परिषद् तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' के प्रथम दृश्य में मिलेंगे। भावुकता प्रधान स्थल 'स्कंदगुप्त' 'अजातशत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' में पर्याप्त संख्या में मिलेंगे। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दार्शनिक विवादों अथवा भावुक कल्पनाओं द्वारा कथोपकथनों का अनावश्यक विस्तार करना दोष अवश्य है। पर साथ ही यह भी विचारणीय है कि 'प्रसाद' ने दार्शनिक एवं भावुक उक्तियों की अभिव्यक्ति तदनुरूप पात्रों द्वारा ही कराई है। अत: उन में आतिशय्य दोष भले ही हो पर अनुपयुक्तता का आरोप नहीं हो सकता। पात्रों का चरित्र भी ऐसी लम्बी उक्तियों के परिमाण से चाहे उनसे न व्यक्त होता हो किन्तु उन पर तदनुरूप प्रकाश अवश्य पड़ता है अत: वे उपहासास्पद अथवा त्याज्य नहीं ठहराई जा सकती हैं।

वास्तविक जीवन में स्वगत चिंतन ही स्वाभाविक है। स्वगत उक्ति के उदाहरण विरल हैं। अतः जीवन की अनुकृति नाटकों में उनका आश्रय अस्वाभाविक एवं कृत्रिम माना गया है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि काव्य कला है, और नाटक उसका उत्कृष्ट रूप है। कला का सौन्दर्य पूर्णतया व्यक्त करने के लिए यथार्थ जीवनेतर साधनों का आश्रय मान्य है।

नाटककार स्वगतोक्तियों द्वारा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व, अथवा मञ्च पर अनभिनेय कथावस्तु का परिचय सामाजिकों को कराता है। 'प्रसाद' ने स्वगतोक्तियों का प्रयोग अधिकांश में अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने के लिए किया है। बिम्बसार, स्कन्दगुप्त, देवसेना, शान्तिभिक्षु, जनमेजय आदि उनके सभी प्रमुख पात्र स्वगतोक्तियों द्वारा मानस मे होने वाले अन्तर्द्वन्द्व को मुखरित करते हैं। 'प्रसाद' के स्वगत भाषणों का यह एक बड़ा दोष है कि संख्या मे बहुत अधिक हैं तथा दीर्घकाय हैं। ऐसा कोई नाटक नहीं है जहां इसका आधिक्य पूर्ण प्रयोग न हो। अतः यह अवश्य है कि स्वगतोक्तियों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग खटकता है किन्तु चरित्रचित्रण की दृष्टि से इनका अपरिमेय महत्व है।

समष्टि रूप से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि 'प्रसाद' की चरित्रचित्रण शैली, हिन्दी नाट्य-साहित्य मे अपने ढङ्ग की अपूर्व है। पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट एवं प्रभावशाली है। उनमे आदर्शों की प्रतिष्ठा प्रकृतरूप मे है तथा अनुरूप व्यापार समन्वय मे उनकी सजीवता आकर्षणपूर्ण है पात्रों के चरित्रों मे मानवअन्त:करण की विविध मनोवृत्तियों का विश्लेषण है। जीवन की आदर्श स्थिति के साथ उसकी यथार्थता का मनोहर रूप भी मनोवैज्ञानिक ढंग मे अङ्कित है। पात्रों की चारित्रिक महत्ता अथवा हीनता उनके मन, वचन और कर्म द्वारा पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। उनके चरित्र-विकास मे विवेक और भावुकता का समुचित समन्वय है। नाटकोपयोगी अधिकांश गुणों से अलंकृत होने के कारण 'प्रसाद' के नाटकों में चरित्र चित्रण ही निस्सन्देह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक है। उसमें धैर्य, पराक्रम, उत्साह उदारता, कृतज्ञता आदि सभी वरेण्य गुण विद्यमान है। वह निर्भीक, साहसी, रणकुशल और आर्तपरायण है। उसका व्यक्तित्व मनोहर और वीरत्व व्यंजक है। कार्नेलिया के शब्दों मे वह 'शृङ्गार और रौद्र का सङ्गम' है। उसके चरित्र मे राजकुमार से सम्राट पर्यन्त उसका सम्पूर्ण जीवन अङ्कित है। किशोरावस्था की चञ्चलता, यौवन का उत्साह और परिपक्व वय की गम्भीरता सभी का उस मे क्रमिक विकास है। सामान्य स्थिति से उठकर महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करने के लिए जो गुण किसी के लिए आवश्यक हैं वे सब देशकाल की परिस्थिति के अनुसार चन्द्रगुप्त के चरित्र मे हैं। संकल्प, पुरुषार्थ, उत्साह, पराक्रम निर्भीकता, रणकुशलता और सम्यक् व्यावहारिक ज्ञान के द्वारा चन्द्रगुप्त निर्वासित राजकुमार की स्थिति से उठकर सम्राट पद को प्राप्त होता है।

जीवन में यश और सफलता का प्रथम सोपान सद्शिक्षा है। चन्द्रगुप्त तक्षशिला से शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनों में पूर्ण रूप से पारंगत होकर निकलता है। यवनों (यूनानियों) की रणनीति भी वह सहज ही सीख लेता है। सद्शिक्षा का महत्त्व पात्र को कर्तव्यज्ञान कराकर उसके लिए उसे कौशल-पूर्वक प्रेरित करने में है। चन्द्रगुप्त में सद्शिक्षा के प्रभाव से कर्त्तव्यज्ञान और कर्त्तव्य के प्रति कुशल प्रेरणा का परिचय हमें नाटक के प्रारम्भ में ही मिलता है। गुरुकुल मे ही वह आम्भीक को 'प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतन्त्रता' के नाम पर ललकार कर अपने कर्तव्यज्ञान का परिचय देता है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र में पराक्रम एवं साहस के अनेक उदाहरण हैं।

नन्द के कारावास में वह अकेला ही प्रवेश करता है तथा राक्षस और वररुचि के देखते देखते अपने गुरुदेव चाणक्य को बन्धन मुक्त कर लेता है। फिलिप्स के द्वन्द्वयुद्ध के आमन्त्रण को वह सहर्ष स्वीकार करता है और अपने प्रचण्ड पराक्रम से उसे पराजित करता है। मालव युद्ध में वह सिकन्दर से भी डटकर लोहा लेता है अंत में उसे घायल कर देता है 'विजेता सिल्यूकस को भी चन्द्रगुप्त के हाथों पराजित होना पड़ा।', अपने बाहुबल और पराक्रम से वह नन्द के अत्याचारी शासन का अन्त करता है और समस्त उत्तरापथ का सम्राट बन बैठता है।

सफल एवं स्वतन्त्र जीवन के लिए स्वावलम्बन और आत्मसम्मान परम आपेक्षित गुण हैं। दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। स्वावलम्बन के अभाव में आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा संभव नहीं है और आत्मसम्मान की भावना स्वावलम्बन के लिए प्रेरित करती है। चन्द्रगुप्त में आत्मसम्मान की भावना उसकी सद्शिक्षा का ही प्रसाद है। वह चाणक्य से कहता है "आर्य्य संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने केवल यही समझा है कि आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।" चाणक्य के कठोर नियन्त्रण में चन्द्रगुप्त अपने आत्मसम्मान की हानि समझकर उससे कहता है "यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूं आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।" इस प्रकार अपने आत्मसम्मान की रक्षार्थ वह अपने गुरुदेव एवं चिर सहचर सिंहरण को रुष्ट कर स्वावलम्बन के द्वारा जीवनपथ पर अग्रसर होता है। चन्द्रगुप्त चाणक्य और सिंहरण के अभाव में धैर्य्य नहीं खोता है।। वह दृढ़-सङ्कल्प होता है—"पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कन्धे भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर सहचर सिंहरण गया। तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और रहेगा।" सिंहरण का त्यागपत्र पाकर उसका आत्मसम्मान और स्वावलम्बनपूर्ण कठोर कर्म्मभाव प्रदीप्त हो उठते हैं—"हूँ सिंहरण इस प्रतीक्षा में है कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अधिकार सौंप दें। × × ×

चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रखो उसके नाम का जय-घोष विजय लक्ष्मी का मंगलगान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ; मैं आज सम्राट नहीं सैनिक हूँ! चिन्ता क्या सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या? सैनिको सुन लो आज से मैं सेनापति हूं, और कुछ नहीं। जाओ, यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दे दो। कह देना तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण! चन्द्रगुप्त कायर नहीं हैं।" चन्द्रगुप्त की इस उक्ति में उसका तीव्र आत्मसम्मान और उत्कट स्वावलम्बन मुखरित हो उठे हैं।

चन्द्रगुप्त कर्त्तव्य परायण और अध्यवसायी है। वह भूख और प्यास की भी चिन्ता न कर दुर्गम प्रदेशों को गुरुदेव के साथ पार कर अपने लक्ष्य पर पहुँचता है। युद्धकाल में वह अनवरत अध्यवसाय कर अपनी एकनिष्ठ कर्तव्य परायणता का परिचय देता है। एक सैनिक के पूछने पर कि 'शिविर आज कहाँ रहेगा देव?' चन्द्रगुप्त कहता—"अश्व की पीठ पर सैनिक! कुछ खिला दो और अश्व बदलो। एक क्षण विश्राम नहीं।" कर्त्तव्य पूर्ति के लिए, अदृष्ट पर विश्वास रख कर 'चन्द्रगुप्त मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है।' उसका उत्साह कभी मन्द नहीं होता क्योंकि वह आशावादी है। विजय को वह अपना 'चिर सहचर' मानता है।

सिकन्दर के समक्ष चन्द्रगुप्त की निर्भीकता और स्पष्टवादिता प्रकट होती है - सिकन्दर आम्भीक के समान उसे भी अपनी ओर मिलाकर मगध पर आक्रमण करना चाहता है। चन्द्रगुप्त निर्भीकता पूर्वक मुँह-तोड़ उत्तर देता है—

'मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिये; मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु, यवन लुटेरों की साहयता से नहीं।'

सच्ची वीरता केवल प्रतिपक्षी को परास्त कर देने में नहीं वरन्

विपक्ष की रक्षा में है। चन्द्रगुप्त विपक्ष की रक्षा के लिए सर्वत्र सन्नद्ध सच्चा वीर है। वह कार्नेलिया के कौमार्य की रक्षा फिलिप्स से करता है और कल्याणी को चीते से बचाता है। चाणक्य ने उसके विषय में पहले ही पर्व्वतेश्वर से भविष्यवाणी की थी— 'पौरव ! जिसके लिए कहा गया है, कि क्षत्रिय के शास्त्र धारण करने पर आर्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।" आर्त्तपरायण चन्द्रगुप्त निस्सन्देह सच्चा क्षत्रिय वीर है।

चन्द्रगुप्त की प्रभविष्णुता पहले से ही प्रकट है। दाण्ड्यायन उसकी अद्भुत तेजस्विता देख, उसके विषय में भारत का भावी सम्राट् होने की भविष्यवाणी करता है। सिल्यूकस भी सिकन्दर के समक्ष चन्द्रगुप्त की निर्भीकता साहस और पराक्रम को देखकर कहता है—"चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है ! यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता के द्योतक हैं।" पर्व्वतेश्वर चाणक्य के समक्ष मुक्तकंठ से स्वीकार करता है—"मैं क्षमता रखते हुये जिस कार्य्य को न कर सका वह कार्य्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया। ×××× मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्य्यावर्त का एकछत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है।"

चन्द्रगुप्त वीर एवं पराक्रमी होने के साथ ही शीलवान्, कृतज्ञ और उदार भी है। अपने गुरुदेव चाणक्य के प्रति उसकी असीम भक्ति है। उनकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य्य कर वह उसी के अनुरूप आचरण करता है। अपने गुरु की हत्या की चेष्टा के अपराध में वह अपने पिता को भी न्यायानुसार दण्डित करना चाहता है। इसमें उसकी न्याय परायणता व्यक्त होती है नन्द के कारागृह में अपने माता पिता की यन्त्रणाओं को देख कर उसकी आत्मा तड़प उठती है—"पिता तुम्हारी यह दशा ! एक एक पीड़ा की, प्रत्येक निष्ठुरता की गिनती होगी। मेरी माँ ! उन सबका प्रतिकार होगा, प्रतिशोध लिया जायगा।" वह अपने माता–पिता को संतुष्ट रखने के लिए ही गुरुदेव को रुष्ट कर देता है।

कृतज्ञता और अतिथि सत्कार भारतीय संस्कृति के गौरव चिन्ह हैं। चन्द्रगुप्त उनसे वंचित नहीं है। यवन सेनापति सिल्यूकस ने वन में पिपासा-कुल एवं मूर्च्छित दशा में उसकी व्याघ्र से रक्षा की चन्द्रगुप्त उसके इस उपकार को नहीं भूलता। उसने भी सिल्यूकस के प्राणों की रक्षा की। युद्ध में पराजित करके भी चन्द्रगुप्त ने उसे बन्दी तक नहीं बनाया। सिल्यूकस को प्रेरणा से ही उसे उससे युद्ध करना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने तो युद्ध प्रारम्भ होने के समय तक सिल्यूकस से यही कहा—"स्वागत सिल्यूकस! अतिथि की भी तुम्हारी अभ्यर्थना करने में हम विशेष सुखी होते।" चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को रणक्षेत्र में घायल किया किन्तु उत्तेजित किये जाने पर भी उसका वध नहीं किया। यह उसकी उदारता का परिचायक है।

(महत्वपूर्ण जीवन के लिए चारित्रिक दृढ़ता परम वाञ्छनीय है। विश्व नाना प्रकार के विषयवासनायुक्त प्रलोभनों का क्रीड़ास्थल है।) इनके मोह और आकर्षण में पड़कर मनुष्य अपना चरित्र खो देता है और उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती। चन्द्रगुप्त में चारित्रिक पवित्रता और दृढ़ता पर्याप्त है। वह अपनी बालसङ्गिनी कल्याणी के स्पष्ट प्रणय-सकेतों को अवज्ञा के कानों से सुनता है। मालविका की सरलता पर वह मुग्ध होता है और युद्ध में जाने के पूर्व वह मुरली की एक मधुर तान सुनने की अभिलाषा करता है पर इसमें उसके हृदय की विछलन नहीं है चन्द्रगुप्त की इस अभिलाषा में उसके संघर्ष और अध्यवसाय से थके मन को सङ्गीत के स्निग्ध एवं मधुर लोक में लेजाकर किञ्चित विश्रान्ति देने की कामना है। मालविका से वह अपनी मानसिक थकान का स्पष्ट परिचय देता है—"विजयों की सीमा है, परन्तु अभिलाषाओं की नहीं। मन ऊब सा गया है। झंझटों से घड़ी भर अवकाश नहीं।" इसी प्रसङ्ग में मालविका यह कहकर कि "सम्राट्, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं," उसे प्रोत्साहित करती है तब मानों चन्द्रगुप्त का श्रमशिथल मन बिलबिला उठता

है—"संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभाव से द्वन्द्व ! कोई कमी नहीं फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिन्ह लगा देता है।" चन्द्रगुप्त की इस उक्ति में अधिकार सुख से न तो उदासी है और न योगियों की समाधि-कामना है। चन्द्रगुप्त मनुष्य ही है मानव जीवन में एकरसता अरुचिकर हो जाती है। एकही प्रकार के भावों और व्यापारों में निरन्तर संलग्न रहने से मन ऊबने लगता है और एक प्रकार के एकाङ्गी जीवन के प्रति आकर्षण नहीं रहता है। राजनीति, युद्ध और संघर्षों में निरन्तर संलग्न रहने से उसका चित्त परिवर्तन के लिये पुकार उठता है। कर्त्तव्य की वेदी पर वह अपने हृदय की जिस कोमलता की आहुति देता रहा अब उसी में उसे अपने चित्त का विश्राम अनुभव होता है। चन्द्रगुप्त के चरित्र में 'सधारण-जनसुलभ-दुर्बलता' केवल एक बार इसी अवसर पर दिखाई पड़ी अन्यथा वह सर्वत्र गम्भीर एवं पूर्ण आत्मसंयमी है।

कार्नेलिया के साथ चन्द्रगुप्त के प्रेम-प्रसङ्ग का विकास क्रमिक एवं मनोवैज्ञानिक है। दाण्ड्यायन के आश्रम में दोनों का सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है। पुनः वह कार्नेलिया को एक भारी विपत्ति से बचाता है फिलिप्स उसके साथ बलप्रयोग करने की चेष्टा में है। चन्द्रगुप्त उस नराधम से उसका उद्धार करता है। कार्नेलिया उसके शीलसौन्दर्य एवं शौर्य पर मुग्ध हो जातीहै। चन्द्रगुप्त भी कुछ दिनों बाद उसके हृदय में अपनी स्मृति सुरक्षित देखकर उसके प्रति आकृष्ट होता है और कामना करता है कि मैं इसे चिर-स्मृत रखूं। किन्तु कठोर कर्मों के बीच उसकी स्मृति-लता मुरझा जाती है। 'प्रसाद' ने चन्द्रगुप्त का चरित्र एक वीर सेनानी एवं योग्य शासक के रूप में ही विशेष रूप से अङ्कित किया है। अतः उसके हृदय में कार्नेलिया के प्रति प्रेम की मंजुल झाँकी विस्तारपूर्वक नहीं कराई गई है। फिर भी इति-हास सम्मत चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का परिणय नाटक की आकस्मिक घटना नहीं है। दोनों में परस्पर प्रेमाकर्षण समान रूप और गुणों के आधार

पर है। कात्यायन के शब्दों में यदि कार्नेलिया सिर से पैर तक भारतीय संस्कृति मे पगी है तो चन्द्रगुप्त भी अप्रतिम शील, सौन्दर्य समन्वित आदर्श भारतीय वीर है। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह सम्बन्ध परम श्रेयस्कर है। ग्रीक कुमारी कार्नेलिया के भारतसम्राज्ञी होने पर भारत और यूनान की राजनीतिक एकता स्थायी हो गई और दोनों देशों में सांस्कृतिक आदान प्रदान का सूत्रपात हुआ।

मुद्राराक्षस मे चन्द्रगुप्त का चरित्र राज्यारोहण के बाद से अङ्कित है। उसमे नाटककर का मुख्य उद्देश्य चाणक्य और राक्षस के बीच चलने वाली कुटिल चालों का दिग्दर्शन कराना है। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव है। वह चाणक्य की इच्छा बुद्धि और उद्देश्य पर चलने वाला निष्क्रिय नायक मात्र है। चन्द्रगुप्त उसके हाथ का खिलौनारूप है। चाणक्य के व्यक्तित्व के समक्ष दब सा गया है। श्रीयुत् डी० एल० राय के चन्द्रगुप्त' नाटक मे चन्द्रगुप्त का चरित्र अधिक विकसित है। वह एक वीर योद्धा और योग्य शासक है। वहाँ वह चाणक्य के हाथ की कठपुतली मात्र नही है और न वह चाणक्य का कोरा साधन या अस्त्र ही है। फिर भी राय महोदय के नाटक में चाणक्य का चारित्र ही प्रधान है चाणक्य की कृपा से चन्द्रगुप्त सम्राट हो पाया है। चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है किन्तु उसके चरित्र का उसमे उतना विशद विकास नहीं पाया है जितना चाणक्य के चरित्र का।

'प्रसाद' के चन्द्रगुप्त मे चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का विकास स्वतन्त्र रूप से तथा नाटक के वास्तविक नायक रूप में हुआ है। उनके 'चन्द्रगुप्त' मे नायक चन्द्रगुप्त ही है 'चाणक्य नही है' जैसा कि नाटक के नामकरण से ही सिद्ध है। 'प्रसाद' कृत चन्द्रगुप्त मे चाणक्य के चरित्र का भी सविस्तार निदर्शन है किन्तु चन्द्रगुप्त का चरित्र उससे धूमिल नहीं हुआ है। चाणक्य के प्रभाव में रहने पर भी चन्द्रगुप्त में साहस, पराक्रम, स्वावलम्बन,

आत्मसम्मान आदि उसकी कतिपय निजी विशेषतायें हैं जिनमे उसका भी व्यक्तित्व चमकता है। नाटक के नायक होने के नाते चन्द्रगुप्त को ही नाटक का फल—अकंटक समस्त आर्य्य साम्राज्य और नाटक की नायिका कार्नेलिया से परिणय—प्राप्त होता है। प्रसाद' ने भी अपने नाटक में चाणक्य के चरित्र का विशद और व्यापक चित्रण किया है और उसे भी पर्याप्त महत्व दिया है वह केवल इसी कारण से कि 'प्रसाद' चाणक्य सम्बन्धी ऐतिहासिक इतिवृत्त का अपलाप नहीं कर सकते थे।

चाणक्य

चाणक्य का चरित्र अत्यन्त घटनापूर्ण एवं गौरवशाली है। वह एक सामान्य आर्थिक स्थिति का विद्वान ब्राह्मण है और तक्षशिला में अध्यापन कार्य करके गुरुदक्षिणा चुकाता है। अध्ययन के पश्चात् घर लौटने पर उसकी नितान्त आश्रय विहीन दशा है। 'पिता का पता नहीं, झोपड़ी भी न रह गई।' उसने शास्त्रव्यवसायी न होकर सरलजीवी कृषक ही आरम्भ में बनना चाहा। परन्तु देश की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति ने बरबस उसे अपनी ओर घसीटा। उसमे राजनैतिक प्रतिभा थी, विद्वत्ता थी, साहस और निर्भीकता थी। वह उस क्षेत्र में बड़े क्रम से साहस पूर्वक उतरा। उसने साम, दाम, दण्ड, भेद आदि कूटनीतिक चालों से समस्त उत्तरापथ, की राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली और उसे स्वेच्छित दिशा की ओर प्रेरित किया।

मगध का शासन अत्याचारी एवं क्रूर नन्द के हाथ मे था। पञ्चनद का शासनसूत्र क्षत्रिय नरेश पर्व्वतेश्वर सञ्चालित करता था। गांधार का राजा आम्भीक था। मालव और क्षुद्रक आदि में गणतन्त्र शासन-पद्धति थी। सब एक दूसरे से स्वतन्त्र थे और व्यक्तिगत कारणों से एक दूसरे से द्वेष रखते थे। ऐसी ही परिस्थितियों में यवनों ने सिकन्दर के नेतृत्व मे उत्तर पश्चिम मार्ग से भारत में प्रवेश कर भारत विजय करने की योजना की। चाणक्य ने तक्षशिला में ही वह अपनी प्रखर दूरदर्शिता से जान लिया था कि 'आगामी दिवसों में आर्य्यावर्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे।' अतः चाणक्य का स्वदेशानुराग से प्रेरित प्रथम प्रयास पारस्परिक सङ्गठन का होता है। वह नन्द के दरबार में यवन-नीति बतलाने जाता है। यहाँ वह आर्य्यावर्त की रक्षार्थ पंचनद-नरेश पर्व्वतेश्वर की सहायता के

लिए अनुरोध करता है। उसकी बात अवज्ञा के कान से सुनी जाती है। चाणक्य, नन्द एवं उसके चाटुकारों द्वारा, निर्भीक तथा स्पष्ट कथन के कारण अपमानित कर बन्दी कर लिया जाता है। किन्तु उसकी आत्मा दबती नहीं है। कारावास से शीघ्र ही मुक्त होकर वह पचनद जाता है। यहाँ उसका उद्देश्य पर्वतेश्वर की सहायता से चन्द्रगुप्त के लिए मगध का शासन उलटना तथा मगध और पञ्चनद की सम्मिलित शक्ति से यवनों के आक्रमण को विफल करना है। पर्वतेश्वर को उसकी बात ही समझ मे नही आती। तथा वह भी उसे अपमानित कर राज्य से निकल जाने की आज्ञा देता है। स्वल्प साधनयुक्त, ऐश्वर्य विहीन स्वदेशभक्तों को, उनके प्रयत्नारम्भ मे इसी प्रकार का अनादर एवं उपेक्षापूर्ण व्यवहार ऐश्वर्य्यवानों से मिलता ही है।

चाणक्य हतोत्साहित नहीं होता है। उसका 'पददलित ब्राह्मणत्व' जाग उठता है। वह अपने बुद्धिबल एवं सङ्गठन शक्ति से अशक्तों को शक्ति सम्पन्न कर ऐसे कार्य्य कर दिखाता है जिन्हें तत्कालीन बड़े बड़े नरेश नहीं कर सके और जिसकी प्रशसा सभी देशी और विदेशी राजपुरुषों ने की। चन्द्रगुप्त और सिंहरण को अपना अस्त्र बनाकर तथा मालवों और क्षुद्रकों को सङ्गठित कर उसने मालव के युद्ध में सिकन्दर को वह गहरी पराजय दी कि जगद्विजेता बनने का सारा गर्व दूर हो गया। सिकन्दर चाणक्य की अभ्यर्थना करते हुए स्वयं कहता है—'मैं तलवार खींचे आया था, हृदय देकर जाता हूँ।' पर्व्वतेश्वर चाणक्य से कहता है— 'आर्य्य चाणक्य मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को न कर सका, वह कार्य्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया'' इसी प्रकार राक्षस भी चाणक्य की बुद्धि की सराहना करते हुए कहता है—''चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन रात जैसे खिलवाड़ किया करती है।''

अपने राजनैतिक जीवन मे उसका लक्ष्य केवल एक बार विदेशियों को पराजित कर उन्हें भारत के बाहर ही कर देना मात्र नहीं है। वह

समस्त भारत को एक शासनसूत्र में बाँध कर तथा एक योग्य शासक को उस साम्राज्य के सिंहासन पर मूर्धाभिषिक्त कर देश को बाहरी आक्रमणों एवं अन्तर्विद्रोह से मुक्त कर देना चाहता है। अतः वह षड्यन्त्र और कूटनीति से मगध में राज्य-क्रान्ति कराता है तथा चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर बैठाता है। राक्षस आदि के अन्तर्द्रोह को कठोर व्यवस्था से शान्त करता है। पर्वतेश्वर की हत्या नन्द की दुहिता कल्याणी से कराकर 'कण्टकेनैव कण्टकम्' वाली नीति का अनुसरण करते हुए पञ्चनद से लेकर मगध तक का एकछत्र शासन चन्द्रगुप्त के हाथ में सौंप देता है। गान्धार नरेश आम्भीक को अपने प्रभाव मे लाकर वहाँ का शासक मालव सिंहरण को नियुक्त करता है। मालव गणराष्ट्र का अधिपति सिंहरण चन्द्रगुप्त का चिर-सहचर है। इस प्रकार वह गान्धार से लेकर मगध-पर्यन्त समस्त उत्तरापथ को एक शासन-व्यवस्था में लाकर चन्द्रगुप्त को उसका प्रथम आर्य्य-सम्राट घोषित करता है। चन्द्रगुप्त द्वारा सिल्यूकस को पराजित कराकर एक लम्बे समय के लिए देश को वह बाह्य आक्रमणों से मुक्त कर देता है। इस प्रकार उसका राजनीतिक जीवन एक महान सफलता है।

चाणक्य की इस महान् राजनीतिक सफलता का कारण उसकी प्रखर प्रतिभा तथा अन्य स्वभावज विशेषताएं हैं। वह परम निर्भीक, साहसी एवं कठोर सिद्धान्तवादी है। तक्षशिला में ही आम्भीक को फटकारते हुए हम उसकी निर्भीकता का अनुभव करते हैं। नन्द के दर्बार में वह निर्भीकता के साथ अपने विचार व्यक्त करता है तथा अप-मानित होने पर वह वहीं गरज उठता है.—

"खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते खींच ले! परन्तु यह शिखा नन्दकुल की कालसर्पिणी है, वह तब तक न बन्धन में बँधेगी जब तक नन्दकुल निश्शेष न होगा।" वह नन्द के कारावास से त्रस्त नहीं होता वरन् राक्षस के प्रस्ताव का मर्म तत्काल ही

अपनी दूरदर्शिता से अवगत कर तक्षशिला जाने के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से कहता है—

"जाना तो चाहता हूं तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं। और सुनो पर्व्वतेश्वर का नाश करने तो कदापि नहीं।"

वह अपने प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त के किंचित भ्रूभङ्ग को लक्षित कर उससे ललकार कर कहता है—

"लेलो मौर्य्य चन्द्रगुप्त अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा।"

वह साहसी है। घोर से घोर विपत्तियों में भी वह घबराता नहीं है। 'जिस प्रकार पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं' उसी प्रकार उसकी 'नीतिलता विपत्तितम में लहलही' होती है। वह एकाकी नन्द, पर्व्वतेश्वर, आम्भीक, राक्षस, सिकन्दर और सिल्यूकस आदि महान् शक्तियों से अपने बुद्धिबल द्वारा टक्कर लेता है और उन्हें पराजित करता है।

वह कठोर सिद्धान्तवादी है। उसने प्रतिज्ञा की "दया किसी से न माँगूंगा और अधिकार और अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा।" इसका उसने सतत पालन किया। उसने किसी के सामने सिर नहीं झुकाया और अधिकार एवं शक्ति मिलने पर उसने अपने समस्त विरोधियों को या तो निर्मूल कर दिया या अपना अनुगामी बनाया। नन्द, पर्व्वतेश्वर, आम्भीक आदि को उसने निर्मूल कर दिया। उसकी "नीति में अपराधों के दण्ड से कोई मुक्ति नहीं।" वह स्वजनों को भी दण्डित करता है। उसने सुवासिनी को राक्षस से विवाह के लिए बाध्य किया। चन्द्रगुप्त को भी उसकी किंचित अवहेलना के कारण उसने बाह्य रूप से त्याग दिया।

वह विशुद्ध परिणाम-दर्शी है। 'परिणाम में भलाई ही' उसके कामों की कसौटी है।' चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों।' एक

से उसने राक्षस से मुद्रा लेकर उसके और नन्द के बीच द्वेष फैलाया, जो नन्द के विरुद्ध विद्रोहाग्नि फैलाने और चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासनारूढ़ करने मे सहायक हुआ। वह चन्द्रगुप्त की रक्षार्थ विजयोत्सव न मनवाकर उसके पिता-माता को असन्तुष्ट कर देता है। वे छोड़कर चले जाते हैं चाणक्य इसे भी शुभ मानता है क्यों कि 'इनके रहने से चन्द्रगुप्त के एकाधिपत्य मे बाधा होती। स्नेहातिरेक से वह कुछ का कुछ कर बैठता।' चाणक्य पर्वतेश्वर को मगध का आधा राज्य देने का प्रलोभन देकर मगध क्रान्ति मे उससे सहायता लेता है। पुन कल्याणी से उसकी हत्या कराकर चन्द्रगुप्त को वह निष्कंटक कर देता है।

चाणक्य क्रूर और महत्वाकांक्षी है। वह चन्द्रगुप्त की रक्षार्थ शयन कक्ष मे मालविका की हत्या करवाता है। कल्याणी की आत्महत्या से उसे क्षोभ नहीं होता। वह चन्द्रगुप्त से स्पष्ट शब्दों मे कहता है—'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी मे रहता है।' पर उसकी क्रूरता स्वभावज नहीं है। वह सुवासिनी के सामने स्वीकार करता है-'मैं क्रूर हूं, केवल वर्तमान के लिए' भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं। उसकी महत्वाकांक्षा स्वार्थमूलक नहीं है। वह राजाओं का नियामक है। राजा बनाना जानता है पर राज्य करना नहीं चाहता। चन्द्रगुप्त तो उसका अस्त्र मात्र है। चाणक्य चाहता तो स्वयं भारत का सम्राट बन जाता उसने निश्चय किया था कि 'मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर, इस रंगमंच से हट जाना है।' अन्तिम दृश्य में चन्द्रगुप्त को इसी स्थिति पर पहुंचाकर वह मन्त्रिपद तक राक्षस को सौंप देता है और राजनैतिक रंगमंच से सदा के लिए हट जाता है।

चाणक्य के चरित्र में उसका निर्भीक और निस्पृह ब्राह्मणत्व उसके गौरव को विशेष उत्कर्ष प्रदान करता है। उसकी सम्मति मे ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है। वह निर्भय होकर सर्वत्र विचरता है। वह आम्भीक से ब्राह्मणोचित

निर्भीकता से कहता है—'ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है न अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता और अमृत होकर जीता है। वह किसी की उपेक्षा नहीं सहन कर सकता चाहे वह उसका परम स्नेहभाजन ही क्यों न हो। अपमानित होने पर उसका ब्राह्मणत्व तड़प उठता है। पर्वतेश्वर ने उसे देश-निर्वासन की आज्ञा दी उसका ब्राह्मणत्व गर्जन कर उठा—'रे पददलित ब्राह्मणत्व देख' शूद्र ने निगडबद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल-एक बार अपनी ज्वाला से जल! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों।'

उसमें ब्राह्मणोचित विद्वत्ता और निर्भीकता के साथ ब्राह्मण सुलभ उदारता और क्षमाशीलता भी है। वह अपने परम शत्रु नन्द को अपने वश में पूर्णतया करके उससे कहता है—'नन्द! हम ब्राह्मण हैं तुम्हारे लिए, भिक्षा माँगकर तुम्हें जीवन दान कर सकते हैं। नन्द के प्रति उसकी यह उदारता मौखिक नहीं है। वह नागरिक-वृन्द से कहता है—"नागरिक वृन्द, आप लोग आज्ञा दें—नन्द को जाने की आज्ञा।" सेनापति मौर्य्य एकान्त ध्यानावस्थित दशा में चाणक्य की हत्या के लिये प्रयत्न करता है। चन्द्रगुप्त न्याय-व्यवस्था स्वरूप उसे प्राणदण्ड देना चाहता है; किन्तु चाणक्य उसे क्षमा कर देता है। चाणक्य को किसी से द्वेष नहीं। पराजित सिकन्दर से मैत्री हो जाने पर वह उसको मंगलमय यात्रा की कामना करता है। राक्षस से उनकी निरन्तर चोटें चलती रहीं किन्तु उसके भी शरणागत होने पर वह उसे महामन्त्री पद पर अभिषिक्त करा देता है। उसने ब्राह्मणोचित आदर्श का बड़ा मनोहर रूप सुवासिनी के सामने रखा—

"मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।" अन्ततोगत्वा उसे अपने अन्तर्विहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि दाण्ड्यायन के आश्रम में

होती है।

चाणक्य जटिल राजनीति में सदैव व्यस्त रहता है किन्तु उसके इस जीवन में भी उसके हृदय का मधुर एवं कोमल भाग यदाकदा दृष्टिगोचर हो जाता है। वह तक्षशिला से विद्याध्ययन कर जब घर आता है तब अपने पिता आदि के साथ अपनी बाल सहचरी सुवासिनी का भी स्मरण करता है 'सुवासिनी अभिनेत्री हो गई—संभवतः पेट की ज्वाला मे।' सुवासिनी से वह बाल्यकाल से परिचित है। वह उसके साथ बाल-जनोचित आमोद-प्रमोद में एक हृदय होकर रहता था। सुवासिनी की स्मृति बारम्बार सजग हो उठती है। कठोर कर्मों के समारम्भ मे वह उसे भुलाने का प्रयत्न करता है। सुवासिनी के सम्मुख आजाने पर प्रणय-भाव चाणक्य की आँखों से छलक पड़ता है। 'विजन बालुकासिन्धु में सुधा की लहर पड़ती है।' किन्तु सुवासिनी के भ्रूभंग-मात्र से अपनी उस दुर्बलता का संकेत पाकर वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। वह प्रणय मे अन्धा नहीं होता। उसका विवेक यह बोध कराता है कि सुवासिनी का प्रणय 'स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ, और (उसके) शैशव का वह सब हृदय की स्निग्धता थी।" उसे यह विश्वास हो जाने पर कि सुवासिनी राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती है वह उसे राक्षस से विवाह करने के लिए आज्ञा देता है। इस प्रकार चाणक्य "अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिपक्षी को' सौंपकर अपनी महान् ब्राह्मणोचित त्यागमयी उदार मनोवृत्ति का परिचय देता है।

चाणक्य का जीवन अत्यन्त प्रभावोत्पादक और प्रतिष्ठा सम्पन्न है। उसके व्यक्तित्व की सराहना उसके अनुगामी ही नहीं वरन् विपक्षी तक करते हैं। पर्वतेश्वर, राक्षस और आम्भीक उसके त्याग-मय कर्मठ जीवन से प्रभावित हो अपनी खल बुद्धि का परित्याग कर उसके अनुगामी बन जाते हैं। सिल्यूकस, सिकन्दर, कार्नेलिया सब

उसकी मुक्तकण्ठ से सराहना करते हैं और उसके विरोधी होने पर भी उसके सामने उसका अभिनन्दन करते हैं। 'प्रसाद' ने चाणक्य के गौरव-पूर्ण जीवन की जो झाँकी 'चन्द्रगुप्त' में प्रस्तुत की है उसके समक्ष सभी का मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है। अतः यह उनकी महान् सफलता है।

सिंहरण

मालव-गण-तन्त्र के राष्ट्रपति के पुत्र सिंहरण का हृदय उसकी प्रारम्भिक वय मे ही स्वातंत्र्य और स्वदेशानुराग की भावनाओं से ओतप्रोत है। तक्षशिला में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सहवास पाकर उसे तत्कालीन राजनीति में उन्हें सक्रिय रूप देने का उसे अवसर मिला। वह आम्भीक की अविश्वासी एवं देशद्रोही नीति से आकुल हो उठा; और उसने अपनी निर्भीक प्रकृति के अनुरूप उसका खुल्लमखुल्ला विरोध किया—"हाँ हाँ, रहस्य है। यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर आर्य्यावर्त की सुख-रजनी का शान्ति-निद्रा मे, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार! सम्भवतः तक्षशिलाधीश वाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गए थे ?"

सिंहरण ने तक्षशिला में अपने कार्य्यो के उपयुक्त परिस्थितियाँ नहीं पायीं। अतः उसने पञ्चनद में पर्व्वतेश्वर को यथेष्ट सहायता देकर यवनों के प्रतिरोध का निश्चय किया। सिकन्दर के साथ पर्व्वतेश्वर के युद्ध में वह अपार की सहायता करता हुआ स्वयं घायल हुआ। पर्व्वतेश्वर की पराजय से उसे ग्लानि हुई किन्तु वह हताश नहीं हुआ। उसने मालव में ही सैन्यसंग्रह कर चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सहायता से सिकन्दर को वह पाठ पढ़ाया कि जगद्विजेता बनने का उसका सारा गर्व काफूर होगया। वह एक साहसी, वीर और रणकुशल सेनानी है। (वह एक स्थल पर अलका से कहता है—"अतीत सुखों के लिये सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों, और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा।"

चाणक्य के प्रति उसकी गुरुभक्ति अगाध है, तथा चन्द्रगुप्त उसका

अनन्य सुहृद है। दोनों के प्रति उसने अपने कर्तव्यों का पालन दृढ़ता के साथ आजीवन किया। वह चाणक्य के आदेश पर ही अपना समस्त कार्यक्रम निर्धारित कर उसे क्रियात्मक रूप देता है। सिंहरण चाणक्य का इतना भक्त है कि जब चाणक्य और चन्द्रगुप्त की अनबन हो जाती है तो वह चन्द्रगुप्त का साथ छोड़ कर चाणक्य के पास चला जाता है।

चन्द्रगुप्त के प्रति उसकी मित्रता भी अनन्य भाव की है। वह उसके लिए अपने प्राणों का मोह त्याग कर उसकी सहायता के लिए सदैव प्रस्तुत है। फिलिप्स और चन्द्रगुप्त के द्वन्द्वयुद्ध के समय सिंहरण ससैन्य सहायतार्थ पास ही प्रस्तुत था। मगध की राज्यक्रान्ति में उसे सक्रिय भाग लेने का अवसर ही न मिला। सिल्यूकस के साथ चन्द्रगुप्त के संग्राम के समय यद्यपि वह परिस्थितिवश बाह्यरूप से उदासीन एवं तटस्थ था परन्तु उसकी आत्मा चन्द्रगुप्त की सहायतार्थ आकुल ही रहती थी। वह चाणक्य से कहता है—"यदि कोई दुर्घटना हुई तो? आज्ञा दीजिये अब मैं अपने को नहीं रोक सकता।" चन्द्रगुप्त से मिलकर वह यही कहता है—"हाँ सम्राट्! और समय चाहे मालव न मिले, पर प्राण देने का महोत्सव पर्व वे नहीं छोड़ सकते।" सिंहरण के हृदय में युद्ध के लिए कितना उत्साह और तत्परता है, यह चाणक्य की एक उक्ति से प्रकट हो जाता है—

"जब देश में युद्ध हो, सिंहरण मालव को समाचार मिला हो, तब उसके आने की भी आशा" उसी प्रकार है जैसे 'जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह रह कर बिजली चमक जाती हो, पवन स्तब्ध हो, उमस बढ़ रही हो और आषाढ़ के आरम्भिक दिन हों' उस समय 'जल बरसने की' आशा।

सिंहरण के चरित्र में उदारता और वीरता का परस्पर मणिकाँचन संयोग है। उदारता संवलित वीरता श्रद्धा का सहज आलंबन है। सिंहरण सिकन्दर के व्यक्तित्व में हमें उसके स्पष्ट दर्शन होते हैं। 'निरीह जनता का

अकारण वध' करने वाले सिकन्दर जैसे 'नृशंस' को घायल कर वह उसीके सैनिकों द्वारा उसे हटवा देता है—

'यह भारत के ऊपर एक ऋण था; पर्व्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का प्रत्युत्तर है।' वह अपने प्रारम्भिक शत्रु आम्भीक को भी क्षमा कर अपना लेता है।

अलका के प्रति उसका प्रेम चिर परिचय और सहकार जन्य है। दोनों की प्रकृति में साम्य है। अलका और सिंहरण दोनों ही स्वदेशानुरागी साहसी, वीर और सहृदय हैं। दोनों में परस्पर प्रेम भी अनन्यभाव से है। आर्य्य चाणक्य के आदेशानुसार थोड़ी देर के लिए पंचनद का सूत्रसंचालन के लिए' भी अलका वहाँ की रानी बन जाय, यह बात सिंहरण को सह्य नहीं है। उसके 'सुन्दर निश्छल हृदय से हँसी करना भी अन्याय है।' यही प्रेम की अनन्यता है। चाणक्य ने इसी को पहिचान कर दोनों का वैवाहिक सम्बन्ध करा दिया।

राक्षस

स्वर्गीय आमात्य वक्रनास के कुल में उत्पन्न ब्राह्मण राक्षस कलाकुशल विद्वान, राजनीतिज्ञ, और मगध के नन्दकुल का स्वामिभक्त सचिव है। उसकी दृढ़ धारणा है कि 'मगध जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का अपमान करके कोई यों ही नहीं जा सकता।' पर्व्वतेश्वर ने राजकुमारी कल्याणी के विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर मगध का अपमान करने की धृष्टता की, जिसका फल उसे तत्काल ही मगध की सहायता के अभाव के कारण भोगना पड़ा।

राक्षस के चरित्र में तीन बातें प्रमुख हैं—सुवासिनी से प्रेम, नन्द-कुल की हित कामना और चाणक्य से उसकी प्रतिद्वन्दिता। प्रथम और द्वितीय का तृतीय से जनक-जन्य सम्बन्ध है। सुवासिनी के प्रति राक्षस का प्रणय-भाव, और मगध की हित कामना ही चाणक्य की प्रतिद्वन्दिता में उसे लाई। प्रणय में तो वह सफल हुआ किन्तु मगध को वह चाणक्य के कूटचक्रों से न बचा सका।

सुवासिनी के प्रति उसका प्रेम, उसके सौन्दर्य और संगीत कुशलता के कारण हैं। राक्षस स्वयं कलाविद् एवं संगीतज्ञ है। प्रथम परिचय के बाद ही उसका प्रेम उन्माद का रूप धारण करता है—सुवासिनी 'एक लालसा है, एक प्यास है।' उसके बिना उसकी विद्या, परिष्कृत विचार, सब व्यर्थ हैं। उसके लिए वह 'सौ बार मरने को तय्यार है।' सुवासिनी के प्रति अपने प्रेम की अक्षुण्णता में वह किसी प्रकार का व्याघात या व्यवधान नहीं सहन कर सकता चाहे वह नन्द हो या चाणक्य। ऐसा होने पर उसके भीतर एक दुष्ट प्रतिभा, जो सचेष्ट रहती है जाग उठती है, और उसका प्रतिकार वह प्राणपण से करता है। विलासी नन्द से

सुवासिनी को बचाने के लिए वह [ठीक समय पर आ पहुँचता है। जब उसे मालूम हुआ कि चाणक्य के हृदय में भी सुवासिनी की मूर्ति अंकित है तब वह समझ गया कि "चाणक्य चाहे राजनीति का आचार्य हो जाय चाहे विरक्त, तपस्वी सुवासिनी को वह नहीं भूल सकता।" अतः उसका प्रणय उसकी राजनीति एवं कूटनीति का प्रेरक बन जाता है तथा वह मगध में षड्यन्त्रों एवं पारस्परिक विद्वेष का ऐसा वात्याचक्र प्रस्तुत करता है कि चाणक्य भी चकराकर पूछता है 'राक्षस तुम्हारे मन में क्या है ?'

राक्षस का प्रेम एकांगी नहीं है। उसका प्रेमालम्बन भी उसकी ओर उसी के समान आकृष्ट है। सुवासिनी अपने को 'आमात्य राक्षस की धरोहर' समझती है और उसे खोजने वह स्वर्ग तक जाने को तय्यार है।

उसका राजनैतिक चरित्र एवं स्वामिभक्ति संकुचित, स्वार्थपूर्ण एवं प्रभाहीन है। वह वैयक्तिक कारणों से आर्य राष्ट्र के शत्रु सिकन्दर के विरुद्ध पोरस को प्रत्यक्ष सहायता देना अस्वीकार करता है। वह अपने स्वामी के परम शत्रु चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़कर सिंहासन पर बैठाता है और स्वामी के हत्याकारी शकटार के सहयोग से मंत्रिपरिषद् का कार्य करना स्वीकार करता है। वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए विदेशी शत्रु सिल्यूकस से जा मिलता है और शत्रुपक्ष को देश की बहुत सी भेदभरी बातें बताकर उसे आक्रमण के लिए उत्तेजित करता है। यह उसका स्पष्ट विश्वासघात और देशद्रोह है। उसके इस कार्य की निन्दा उसकी शिष्या कार्नेलिया तक करती है—'मेरे यहाँ ऐसे ही लोगों को देशद्रोही कहते हैं।' वह राजनीति में कणिक का अनुगामी बनता है कि 'शत्रु का नाश करदो।' किन्तु इस सिद्धान्त के प्रतिपादन की न तो उसमें क्षमता है और न विवेक ही।

चाणक्य के साथ उसकी शत्रुता स्वभावज-सी है। चाणक्य कुरूप, कठोर, शुष्क और निरपेक्ष है। राक्षस संगीत, सुरा और सौन्दर्य

प्रेमी, कलाविद्, भावुक और कोमल है। नन्द की सभा में प्रथम साक्षात्कार में ही वह चाणक्य के विचारों से, उसकी भयानक आकृति एवं कर्कश निर्भीक वाणी के कारण, असहमत हो उठता है और यहीं से प्रतियोगिता की नींव पड़ती है। राक्षस चाणक्य को नितान्त उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। कल्याणी से वह कहता है—'मैं इसका मुँह भी नहीं देखना चाहता।' फिर भी वह समझता है कि चाणक्य से उसका द्वन्द्व अनिवार्य है। किन्तु यथार्थ में वह चाणक्य का उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी नहीं प्रतीत होता। चाणक्य की उंगलियों पर वह नाचता है। चाणक्य के झाँसे में आकर वह अपनी अंगुलीय मुद्रा तक उसे दे देता है। वह नन्दकुल का नाश चाणक्य के हाथों न तो रोक सकता है और न कूटनीति के द्वारा वह चन्द्रगुप्त की हत्या अथवा उसे अपदस्थ करा कर चाणक्य को विफल मनोरथ ही कर सकता है। उसे उसकी प्रेयसी सुवासिनी और मगध का मंत्रिपद चाणक्य की उदारता के कारण ही मिल सके। उसका निजी पुरुषार्थ अथवा बुद्धि उसकी अधिक सहायता न कर सके। वास्तव में प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राक्षस का चरित्र इतना गौरव पूर्ण नहीं है जितना विशाख के 'मुद्राराक्षस' में। इसमें न तो उसकी वैसी उत्कट स्वामिभक्ति ही अंकित है, और न कूटबुद्धि ही। 'मुद्राराक्षस' में राक्षस की स्वामिभक्ति सतत निर्वाहयुक्त है तथा चाणक्य के द्वारा उसकी पराजय बुद्धि-हीनता के कारण नहीं वरन् परिस्थिति जन्य है। 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस में कूटनीति उपयोगी बुद्धिबल का अभाव है। वह चाणक्य का उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी ही इसमें नहीं प्रतीत होता है। वह प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ तथा कूटनीति के आचार्य चाणक्य के समक्ष राजनीति और कूटनीति का बौना तथा सदाचार एवं परमार्थ गुणों से विहीन प्रतीत होता है।

——※——

आम्भीक

आम्भीक अविवेकी, स्वार्थी, और दम्भपूर्ण है। वह पर्वतेश्वर से व्यक्तिगत द्वेष के कारण, समस्त आर्य्य-राष्ट्र के शत्रु सिकन्दर को सहायता देना स्वीकार कर अपने अविवेक एवं अदूरदर्शिता का परिचय देता है। वह अपने तुच्छ आत्मगौरव की भावना से इतना अभिभूत है कि राजनीति और अर्थनीति के आचार्य चाणक्य का निर्देश भी नहीं मानता। उसकी बहन अलका और उसका पिता दोनों ही उसकी दुर्नीति के कारण अपना देश और घर छोड़ देते हैं। बहिन के गृह—त्याग पर उसका विवेक क्षणिक रूप से सजग होता है—"इस अवस्था में तो लौट आता, पर वे यवन सैनिक छाती पर खड़े हैं। पुल बँध चुका है। नहीं तो पहिले गांधार का नाश होगा" इसके पश्चात् कुछ समय तक तो वह अपनी स्वार्थमयी दुर्नीति की आँधी में इतने वेग से उड़ता है कि वह अलका को भी पर्वतेश्वर की सहायता करने के कारण बन्दी करता है। अन्त में वह यवनों की पराधीनता से पीड़ित होता है। चाणक्य के उपदेश से और अलका के स्वदेश हित त्यागमय जीवन से अनुप्राणित हो, आम्भीक अपने व्यर्थ के अभिमान को छोड़ता है। वह साम्राज्य की सदस्यता स्वीकार करता है तथा अलका और सिंहरण को गाँधार महाप्रदेश का शासन समर्पित कर यवनों के सम्मुख अपना कलङ्क धोने का अवसर चाहता है। परमार्थ प्रेरित प्रवञ्चना भी देशकाल से वरेण्य है। सिल्यूकस के साथ आम्भीक की प्रवञ्चना स्वदेश-कल्याण कामनाजन्य है। संग्राम-भूमि में सिल्यूकस के साथ युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त कर वह अपना कलङ्क वास्तव में धो डालता है।

पर्व्वतेश्वर

'चन्द्रगुप्त' में पञ्चनद-नरेश पर्व्वतेश्वर का चरित्र उद्धत और विलासी रूप में अङ्कित है। वह राजनीति से अनभिज्ञ और दर्पयुक्त है। वह प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा नन्द की कन्या से सम्बन्ध करना अस्वीकार कर देता है। चाणक्य की सलाह के अनुसार, चन्द्रगुप्त की सैनिक सहायता कर मगध राज्य की लक्षाधिक सैन्य के सहयोग का लाभ भी वह त्याग देता है, तथा अपने दर्प में वह चाणक्य को राज्य से निकल जाने की आज्ञा देता है। सिकन्दर के साथ एकाकी युद्ध में वह निस्सन्देह क्षत्रियोचित उत्साहपूर्ण वीरता और साहस का परिचय देता है। हाथियों के प्रत्यावर्तन से हतोत्साहित न होकर वह अपने सेनापति को आज्ञा देता है—"सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्व्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह बज्र बरसे, सारी गजसेना छिन्न भिन्न हो जाय, रथी विरथ हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्व्वतेश्वर के लिए असम्भव है।" पराजित पर्व्वतेश्वर सिकन्दर के समक्ष भी प्राणभिक्षा न मांग कर एक नरपति का अन्य नरपति के संग व्यवहार मांगता है। पर्व्वतेश्वर की पराजय, उसमें यथेष्ट वीरता के अभाव से नहीं, वरन् देश-कालोपयोगी राजनीति के अभाव से तथा दुर्दैव की प्रेरणा से है।

पराधीनता अभिशाप है। वह स्वतंत्रता के साथ नैतिक बल भी नष्ट कर देती है। पर्व्वतेश्वर का चरित्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वह सिकन्दर के साथ मैत्री ~~रूप में~~ उसकी पराधीनता स्वीकार कर स्वदेश-

सम्मान आदि भूल जाता है और अन्त मे वह विषय लोलुपता मे पड़ जाता है। वह पहिले अलका को अपने विलास-भवन में लेजाना चाहता है। अलका से सिकन्दर को सैनिक सहायता न देने की प्रतिज्ञा कर वह उसे भी भंग करता है। उसकी विवेकहीन दुर्नीति उसे असफलता की ही ओर घसीटती है। अलका भी उसके हाथ से निकल जाती है और सिकन्दर भी उसकी उपेक्षा करता है। वह हताश होकर आत्महत्या के लिए प्रस्तुत होता है। यह उसका पूर्ण रूपेण नैतिक दिवालियापन है। मगध का आधा राज्य पाने के प्रलोभन मे वह मगध की राज्यक्रान्ति में सहयोग देता है। क्रान्ति के सफल होने पर भी उसे मगध का आधा राज्य न मिला। अतः वह उसकी प्राप्ति के लिए सक्रिय उद्योग नहीं करता वरन् कामुकतावश मगध की राजकन्या कल्याणी को अपनी प्रियतमा बनाकर वह मगध का राज्य हस्तगत करना चाहता है। जिस कल्याणी के लिए सम्मानपूर्ण ढंग से किए गए विवाह प्रस्ताव को उसने क्षत्रियोचित दर्प मे अस्वीकार कर दिया था उसी के प्रति लोलुपतावश उसका आकर्षित होना उसकी निकृष्ट विलासी मनोवृत्ति का परिचायक है। उसे, अपने इस नैतिक पतन का, समुचित दण्ड भी मिलता है। बल-पूर्वक पकड़ने की चेष्टा मे कल्याणी छुरा मार कर उसके जीवन का अन्त कर देती है।

'प्रसाद' ने पर्व्वतेश्वर के चरित्र में सिकन्दर के समक्ष इतिहास सम्मत स्वरूप वीरता के अतिरिक्त किसी अच्छे गुण का समावेश नहीं किया। मिथ्या गर्व, राजनैतिक अदूरदर्शिता एवं कामुकता के अतिशय निदर्शन से उसका चरित्र बहुत कुछ गिरा दिया गया है। सिकन्दर के साथ साहसपूर्ण संघर्ष कर जो श्रद्धा उसके व्यक्तित्व के प्रति स्फुरित होती है, वह उसकी कामुकता की कालिमा में विलीन हो जाती है।

——⁂——

सिल्यूकस

यवन-सेनापति सिल्यूकस वीर, साहसी, और उदार है। वह यवन-रणकला का पण्डित तथा यवन-संस्कृति का मर्मज्ञ है। आपत्ति में पड़े हुओं की रक्षा करना सभी सभ्य जातियों का साधारण गुण है। वह पिपासाकुल मूर्छित चन्द्रगुप्त की व्याघ्र से रक्षा करता है। चन्द्रगुप्त को अपने शिविर में आतिथ्य के लिए निमन्त्रण देना उसकी उदारता का परिचायक है। वह किसी के गुण एवं अवगुण शीघ्र ही अवगत कर उसके अनुसार उसका प्रतिकार करता है। फिलिप्स ने उसकी कन्या कार्नेलिया के साथ बल-प्रयोग करने की धृष्टता की, तथा सिकन्दर के कान उसके विरुद्ध भरे। सिल्यूकस सिकन्दर के समक्ष ही निर्भीकता पूर्वक उसकी भर्त्सना करता है। चन्द्रगुप्त के सौजन्यपूर्ण व्यवहार एवं वीरता से वह प्रभावित होता है। सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त को अपने शिविर में आमन्त्रित कर उसे बन्दी करने की चेष्टा की। चन्द्रगुप्त के पराक्रम से वह सफल न हो सका। सिल्यूकस एक सच्चे विचारशील व्यक्ति की भाँति अपने स्वामी के इस कार्य की आलोचना उसके समक्ष करता है—"आपका अविवेक! चन्द्रगुप्त एक वीर पुरुष है! यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है। सम्राट! हम लोग जिस कार्य के लिए आए हैं उसे करना चाहिए।"

सिल्यूकस ने सिकन्दर के बाद भी भारत-विजय की चेष्टा की। इस विजय यात्रा के मूल में यवनसंस्कृति से अनुप्राणित 'सिकन्दर से बड़ा साम्राज्य—उससे बड़ी विजय' पाने की महत्वाकांक्षा थी। वह 'अपनी कन्या के सम्मान की रक्षा करने वाले का वध' नहीं करना चाहता था। वह चन्द्रगुप्त को क्षत्रप बना देना चाहता था। इसी लिए

उसने साइबर्टियस को दूत बनाकर भेजा था। सिल्यूकस हत्यारा नहीं था। उसमें केवल विजेता होने की महत्त्वाकांक्षा थी।

सिल्यूकस एक सेनानी के नाते पराक्रमी और वीर था। पर्व्वतेश्वर के समक्ष उसने डटकर युद्ध किया और सिंहरण को घायल भी किया। चन्द्रगुप्त के हाथों पराजित होने पर भी वह उससे अपमान पूर्ण शर्तों पर मैत्री नहीं करना चाहता। वह मेगास्थनीज से अपने वीर स्वभाव के अनुकूल कहता है—"तो क्या ग्रीक इतने कायर हैं! युद्ध होगा साइबर्टियस! हम सबको मरना होगा।"

सिल्यूकस वीर है पर साथ ही वह विवेकयुक्त है। अपनी कन्या कार्नेलिया के प्रति उसके हृदय में असीम ममता है। ग्रीक साम्राज्य की संकटपूर्ण राजनैतिक परिस्थितियों के कारण, तथा वात्सल्य प्रेम की प्रेरणा से वह चन्द्रगुप्त से सन्धि कर उसे अपनी कन्या समर्पित कर देता है।

'प्रसाद' ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में विदेशी पात्रों में सिल्यूकस का चरित्र ही विशदता से उच्चकोटि का चित्रित किया है। वीरता, उदारता कृतज्ञता आदि सात्विक भाव किसी एक देश की ही सम्पत्ति नहीं है। वे सार्वभौमिक एवं मानव हृदय सुलभ हैं। सिल्यूकस इनका एक अच्छा उदाहरण है।

सिकन्दर

ग्रीक-सम्राट् सिकन्दर पराक्रमशील, साहसी, एवं रणकुशल है। समस्त पश्चिमी एशिया-खण्ड को पादाक्रांत कर वह भारत विजय करने आता है। गान्धार-नरेश आम्भीक को अपनी ओर मिलाकर वह पंचनद पर आक्रमण करता है, और प्रचण्ड पराक्रमी पर्व्वतेश्वर को पराजित करता है। वह चन्द्रगुप्त को भी, आम्भीक की तरह, अपनी ओर मिलाकर मगध पर आक्रमण करना चाहता है, पर इसमें वह असफल होता है। वह 'अपनी कूटनीति से प्रत्यावर्तन में भी विजय चाहता है। अपनी विद्रोही सेना को स्थल मार्ग से लौटने की आज्ञा देकर नौबल के द्वारा वह स्वयं, सिंधुसंगम तक के प्रदेश, विजय करना चाहता है।' किन्तु मालव के रण-क्षेत्र में उसे मुंह की खानी पड़ती है।

सिकन्दर साहसी है। वह 'केवल सेनाओं को आज्ञा देना नहीं जानता' वरन् स्वयं आगे होकर युद्ध करता है। मालव दुर्ग पर अधिकार करने के लिए वह स्वयं आगे बढ़ता है और सिंहरण के हाथों घायल होता है।

सिकन्दर वीर और पराक्रमी होने के साथ ही उदार भी है। पर्व्वतेश्वर के पराजित होने पर भी वह उसके साथ राजोचित व्यवहार करता है। महात्माओं एवं गुणी पुरुषों के प्रति वह श्रद्धा एवं सम्मान प्रदर्शित करता है। दाण्ड्यायन के आश्रम पर स्वयं जाकर वह उसकी अभ्यर्थना करता है, तथा उसके उपदेश बड़ी श्रद्धा के साथ सुनता है। वह चाणक्य के प्रति भी समुचित श्रद्धा और सौहार्द्र व्यक्त करता है। भारतीयों के साहस और सौजन्य से प्रभावित होकर वह भारत का मुक्तकण्ठ से अभिनन्दन करता है—

'मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। संभवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूं।''

'प्रसाद'' ने अपने नाटक में चन्द्रगुप्त द्वारा, सिकन्दर का 'लूट के लोभ से हत्या व्यवसायियों को एकत्र' करने वाला कहलाया है सिकन्दर पर एक अन्य आरोप भी है कि 'इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है।' सिकन्दर, नाटक के नायक चन्द्रगुप्त का प्रतिपक्षी है। विपक्ष में नायक-विरोधी गुणों का दिग्दर्शन नायक के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करता है। सिकन्दर के क्रूर एवं अनियमित सैनिक व्यक्तित्व के समक्ष सात्विक वीरतायुक्त चन्द्रगुप्त का चरित्र उत्कृष्ट हो गया है। साथ ही सिकन्दर पर इन आरोपों के मूल में प्रसाद' की राष्ट्रीय भावना भी है इतिहासकों ने सिकन्दर की विजय-यात्राओं की प्रशंसात्मक व्याख्या की है। किसी राष्ट्रीय साहित्यिक की दृष्टि में उसके राष्ट्र पर आक्रमण करने वाला सर्वथा सद्गुणालंकृत नहीं हो सकता। अतः सिकन्दर के चरित्र पर 'प्रसाद' के ये आरोप चाहे स्पष्टरूप से इतिहास सम्मत न हों पर राष्ट्रीय साहित्य की दृष्टि से उन्हें उचित ही ठहराया जायगा।

नन्द

महापद्म की जारज संतान एवं मगध का निरंकुश, क्रूर और स्वेच्छाचारी नरेश, नन्द, 'राजपद का अपवाद' है। वह अपने पिता की हत्या करके राजसिंहासन पर बैठा। उसने अपने राज्य के समस्त स्वतन्त्र विचारशील व्यक्तियों को या तो निकलवा दिया, या उन्हें कारावस मे अनिश्चित काल के लिए डाल दिया। वह बौद्ध है और चाटुकारों से सदैव घिरा रह कर स्वेच्छा पूर्वक शासन करता है।

नन्द, दम्भ और अविवेक के कारण अपने शत्रु और मित्र को यथार्थ रूप में नहीं पहचान पाता और नीतियुक्त सदुपदेशों की अवज्ञा करता है। वह चन्द्रगुप्त, कल्याणी और चाणक्य को उनके स्पष्ट और निर्भीक कथन के कारण, अपमानपूर्ण ढङ्ग से निकलवा देता है।

'प्रसाद' ने नन्द का चरित्र एक क्रूर विवेक-शून्य एवं विलासी नरपति के रूप में अङ्कित किया है। वह सुरा और सुन्दरियों के बीच अपना कालयापन करता है। अपने प्रिय सचिव राक्षस की प्रेयसी सुवासिनी को बलपूर्वक वह अपने वश मे करना चाहता है। वह अपनी क्रूर मनोवृत्तिवश मौर्य-सेनापति को अँधकूप में डलवा देता है तथा उनकी पत्नी को भी, जो उनके उद्धार के लिए प्रार्थना करने गई थी, वहीं दण्ड देता है। अपने अमात्य वररुचि को नीतियुक्त कथन के कारण वह दण्डित करता है। वह विवेकभ्रष्ट होकर अपने हितैषी मन्त्री राक्षस को उसके विवाहकाल में मण्डप से ही पकड़वा मँगाता है तथा बिना परिस्थितियों का विचार किए ही उसे अन्धकूप डालने की आज्ञा देता है।

अत्याचार अपनी पराकाष्ठा को पहुँच कर उसके कर्ता को ही ग्रस लेता है। नन्द ने अपना नाश अपने अविवेक और क्रूरता के कारण ही करवाया।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उसकी दुर्नीति से प्रतिफलित वातावरण में अपना मनोरथ सिद्ध किया। नन्द का शासन आदि से लेकर अन्त तक राष्ट्रविरोधी एवं स्वार्थपूर्ण नीति का परिचायक है। नन्द अपने अन्तकाल में विरोधियों से युद्ध करने का प्रयास करता है, किन्तु वह उसका विवशताग्रस्त और साधनहीन प्रयास है। इसमें उसकी वीरता और साहस का सम्यक् स्फुरण नहीं है।

वररुचि (कात्यायन)

नन्द सदृश क्रूर, विलासी एवं विवेकशून्य राजा का मन्त्री होकर भी वररुचि ने सदैव न्याय एवं सत्य का समर्थन किया। तक्षशिला के स्नातकों की परीक्षा लेना वह अस्वीकार करता है क्योंकि वह स्वयं वहाँ पढ़ चुका है और समझता है कि वहाँ के उत्तीर्ण छात्रों की परीक्षा लेना वहाँ के शिक्षकों का अपमान करना है। वह मौर्य्य पत्नी के प्रति, नन्द द्वारा किए गए दुर्व्यवहार का तीव्र विरोध करता है और स्वयं विरोधस्वरूप पदत्याग करता है।

वररुचि अध्ययनशील, विद्याव्यसनी एवं उदार सहृदय ब्राह्मण है। वह चाणक्य के पास बन्दीगृह मे राक्षस के साथ इसी प्रेरणा से जाता है कि उसे चाणक्य से वार्तिक लिखाने मे सहायता मिलेगी। अपने अध्ययन के लिए मन्त्रिकार्य्य छोड़ कर वह पुन तक्षशिला जाता है और अपना कार्य्य पूरा करता है।

उसका हृदय क्षमाशील और उदार है। नन्द ने यद्यपि उसे भी अन्धकूप में डाला, किन्तु फिर भी वह चाणक्य से यही कहता है –

"नन्द की भूल थी। वह अब भी सुधारा जा सकता है। ब्राह्मण ! क्षमानिधि ! भूल जाओ।" केवल वररुचि ही नन्द की हत्या पर 'अनर्थ' ! कहकर अपना क्षोभ प्रकट करता है।

वररुचि पारस्परिक फूट और भेदभाव को रोकने की सतत चेष्टा करता है। राक्षस ने, विजयोत्सव न मनाने के कारण, जो द्वेष की आँधी चलाई उसका उसने विरोध किया—"जो कार्य बिना आडम्बर के हो जाय वही तो अच्छा है।" वह चाणक्य के आग्रह पर चन्द्रगुप्त और यवन-बाला के परिणय में आचार्य बन कर अपनी सहृदयता का परिचय देता है।

—※—

कार्नेलिया

ग्रीक-कुमारी कार्नेलिया भावुक और सहृदय है। प्रकृति प्रेम उसके रोम रोम में है। भारत-भूमि के प्रथम दर्शन में ही यहाँ की प्राकृतिक छटा उसके सहज भावुक हृदय को भावविभोर कर देती है। 'यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहिने हुए शैल श्रेणी, हरी भरी वर्षा, शीतकाल की धूप (उसके) बालकाल्य की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं।' वह भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य पर ही नहीं वरन् यहाँ के सरल जीवन और उच्च दार्शनिक चिन्तन पर भी अनुरक्त है। यहाँ के 'भोले कृषक और सरल कृषक-बालिकायें' उसकी सरल प्रकृति के अनुरूप हैं। वह यहाँ के दार्शनिक दाण्ड्यायन का सत्संग लाभ करती है तथा राक्षस से उशना और कणिक के सिद्धान्तों का अध्ययन करती है। भारत की इन्हीं नैसर्गिक विभूतियों से प्रभावित हो वह चन्द्रगुप्त से कहती है " .. ... "यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि है।"

कार्नेलिया के जीवन का प्रेम-प्रसंग मनोवैज्ञानिक आधार पर है। सात्विक प्रेम का उदय और उसकी प्रतिष्ठा अनुकूल आलम्बन पाकर ही होती है। भावुक, गंभीर एवं साहसी कार्नेलिया के लिए 'शृंगार और रौद्र का संगम' चन्द्रगुप्त, अनुकूल प्रेमालम्बन है। दाण्ड्यायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त से उसका प्रथम साक्षात्कार होता है। वहीं पर चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भारत का भावी सम्राट होने की भविष्य वाणी कार्नेलिया के समक्ष उसके गौरव पूर्ण भविष्य की झलक प्रस्तुत करती है। अत: वह शीघ्र ही उसके मानस में प्रतिष्ठित हो जाता है। बारम्बार के मिलन से उसका प्रेम पुष्ट होता जाता है। चन्द्रगुप्त का मनोहर रूप ही

उसके प्रेम का आलंबन नहीं वरन् वह उसकी सहज उदार प्रकृति, सौजन्यपूर्ण व्यवहार और साहसपूर्ण शक्ति की निरन्तर अनुभूति पर आश्रित है। सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त का जो शिष्टाचारपूर्ण शील-व्यंजक व्यवहार है तथा सिकन्दर के समक्ष उसने जिस निर्भीकतापूर्ण साहस एवं पराक्रम का परिचय दिया वह कार्नेलिया के मानस में चिर प्रतिष्ठित हो उसके प्रेम-वीरुध को निरन्तर विकसित करता रहा। उसका प्रेम एक आकस्मिक घटना नहीं है और न उसमें उच्छृंखल आवेग ही है। उसका आधार दृढ़ है और उसमें संयम तथा गम्भीरता है। वह 'प्रेम में स्मृति का सुख अनुभव' करती है तथा उसके हृदय में एक टीस उठती है 'जिसे' वह प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। उसने अपने प्रेम का आभास ही केवल सुवासिनी को दिया—'सखी मदिरा की प्याली में तू स्वप्न सी लहरों को मत आन्दोलित कर। स्मृति बड़ी निष्ठुर है। यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है तो संसार ज्वाला है।" उसका पिता चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर आक्रमण करता है। अपने प्रिय की अमंगल कल्पना से उसका शील और हृदय क्षुब्ध हो उठता है, पर वह संयम का त्याग नहीं करती। वह इस अभियान के प्रति ममत्वपूर्ण आकुलता व्यक्त कर अपने पिता को उससे विरत करने की चेष्टा करती है—

"पिताजी उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा, जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी। वही तो भारत का राजा हुआ न ?"

"पिताजी, आप ही ने मृत्युमुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी ?"

युद्ध होना निश्चित जानकर वह अपना साहस बटोर कर परिस्थितियों का सामना करने को प्रस्तुत हो जाती है। आत्मसम्मान के लिए चरम प्रतिकार रूप प्राणविसर्जन में भी उसे हिचक नहीं है। नारी का आत्मसम्मान उसकी सबसे बड़ी निधि है। उसकी रक्षा के लिए वह बड़ा मूल्य चुका सकती है। कार्नेलिया उस मूल्य के चुकाने

का जैसे ही उपक्रम करती है कि उसका प्रियतम सहसा उपस्थित हो उसे जीवन का उपहार प्रदान करता है।

'प्रसाद' की कार्नेलिया का केवल बाह्य रूप विदेशी है। आभ्यंतर स्थित उसकी भावना और प्रकृति सर्वथा भारतीय है।

वररुचि के कथनानुसार "वह यवनबाला सिर से लेकर पैर तक आर्य-संस्कृति में पगी है।' चाणक्य ने इसी को पहिचान कर उसे भारत की साम्राज्ञी बनाया।

सुवासिनी

'कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम' सुन्दरता की रानी सुवासिनी को हम सर्वप्रथम नन्द की नाट्यशाला में देखते हैं। नन्द उस पर अनुरक्त हो उसे अपनी भोग्या बनाना चहता है, किन्तु सुवासिनी उसका प्रतिकार करती है। वह "नन्द की विलास लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती"। वह नन्द की रङ्गशाला मे पितृ-वञ्चिता अनाथा होकर जीविका के ही लिए गई थी। सुवासिनी विलास की इच्छा से वहां नहीं गई।

राक्षस के प्रति उसका प्रेम स्वभाव एवं गुण साम्य पर आश्रित है। राक्षस कलाविद् एवं सङ्गीतज्ञ है तो सुवासिनी नाट्यशाला में केवल सुन्दरता के बल पर ही नहीं वरन अपने सङ्गीत और कला के प्रदर्शन से सब के आकर्षण की वस्तु है। वह राक्षस का हृदय से चाहती है। उसे किसी प्रकार का प्रलोभन या भय अपने प्रेम मार्ग से विरत नहीं कर सकता। वह प्रणयी को 'खोजने के लिए स्वर्ग तक जाने को प्रस्तुत है।' राक्षस के प्रति उसका प्रेम अगाध है किन्तु उसमें संयम का अभाव नहीं है। सुवासिनी ने अपना हृदय उसे दिया और परिणय सम्बन्ध भी स्वीकार किया। नन्द द्वारा पहुँचाई 'बाधा एक क्षण और रुकी रहती तो' दोनों 'सामाजिक नियम बन्धन से बध गये होते।' इसी बीच में उसके पिता शकटार का कारागार से मुक्त होकर प्रकट हो जाना एक पारिवारिक समस्या उपस्थित कर देता है। उसके लिए 'अब पिता जी की अनुमति आवश्यक हो गई है। वह नहीं चाहती कि उसके चिर-दुखी पिता को उसके किसी स्वेच्छापूर्ण आचरण से, मानसिक कष्ट हो। वह राक्षस से बड़े विनीत भाव से कहती है—

"मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती। किन्तु अब इसका प्रस्ताव

पिता जी से करो ... ।"

सुवासिनी के प्रणय में चाणक्य की स्मृति भी क्षणिक व्यवधान रूप से प्रस्तुत हो जाती है। चाणक्य सुवासिनी से बाल्यकाल से ही परिचित है। दोनों में परस्पर बालसहचर्य सम्भूत प्रेम एवं सहानुभूति भी पर्याप्त है। चाणक्य की प्रेममयी दृष्टि भी उस पर पड जाती है। किन्तु सुवासिनी के भ्र भंग मात्र से ही चाणक्य अपना मन फेर लेता है। वह समझ जाता है कि सुवासिनी का 'प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ' और उसके "शैशव का वह सब केवल हृदय की स्निग्धता थी।" अतः चाणक्य ही सुवासिनी को राक्षस के साथ परिणय की अनुमति देकर उस समस्या का हल कर देता है।

सुवासिनी में भाव स्निग्धता के साथ ही वाक-चातुरी और कार्य्य-पटुता भी पर्याप्त है। चाणक्य ने उसके इस गुण को लक्षित कर ही उसे कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त के प्रति मनोभाव अवगत करने और राक्षस को पुनः भारत लाने के लिए ग्रीक शिविर में भेजा था। उसने अपनी वाकचातुरी से राजकुमारी का ध्यान शीघ्र ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया, उसकी सखी बनकर अपना मनोरथ पूर्ण किया तथा साथ ही वह राक्षस को युक्तिपूर्ण ढंग से पुनः यवन शिविर से निकाल कर भारतीय सीमा में ले आई।

कल्याणी

मगध की राजकुमारी कल्याणी वीरता, साहस और आत्मसम्मान की भावनाओं से ओत प्रोत है। वह नन्द के विलास पूर्ण राजमहलों में पली है किन्तु कुत्सित विलास की छाया उसके व्यक्तित्व को छू तक नहीं गई। वह नारी है किन्तु नारी-भीरुता के स्थान पर उसमें साहस एवं वीरता सम्यक् रूप से विद्यमान है। पर्व्वतेश्वर ने उससे विवाह सम्बन्ध करना अस्वीकार कर दिया है। उसका स्वाभिमान गरज उठता है। उसका पिता द्वेषवश पर्व्वतेश्वर को पंचनद युद्ध में सैनिक सहायता देना अस्वीकार करता है किन्तु कल्याणी पर्व्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने तथा उसे नीचा दिखाने के लिए एक गुल्म सेना लेकर स्वय रणभूमि के लिए प्रस्थान करती है। घनघोर युद्ध के पश्चात जब पर्व्वतेश्वर अपनी विवशता स्वीकार करता है तब भी कल्याणी उसे युद्ध करने के लिए ललकारती है:—

"इन थोड़े से अर्धजीवी यवनों को विचलित करने के लिए पर्य्याप्त मगध सेना है। महाराज ! आज्ञा दीजिए।"

उसकी यह साहसपूर्ण एवं वीरदर्पमयी उक्ति पर्व्वतेश्वर को भयंकर भाले के आघात से भी अधिक मर्माहत करती है और वह इसे अपनी 'निकृष्ट पराजय' पुकार उठता है।

मगध की क्रान्ति के समय भी कल्याणी ही पर्व्वतेश्वर के विरुद्ध नगरावरोध का भार उठाती है। वह इसमें पर्व्वतेश्वर के हाथों बन्दी होकर असफल अवश्य हुई किन्तु उसका यह कार्य भी उसके असीम साहस एवं रणोत्साह का परिचायक है।

कल्याणी के जीवन का मधुरपक्ष अत्यन्त निराशापूर्ण एवं दुःखद है।

वह अपने बाल-सहचर चन्द्रगुप्त को ही अपने परिणय के उपयुक्त समझती है। तक्षशिला से विद्या प्राप्त कर तथा चीते से उसकी रक्षा कर चन्द्रगुप्त ने अपनी योग्यता और वीरता की छाप उसके हृदय पर लगा दी है। वह पंचनद युद्ध मे पर्व्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने के साथ ही चन्द्रगुप्त को देखने के लिए भी जाती है। वह अपने इस अन्तर्भाव को चन्द्रगुप्त के सामने ही व्यक्त करती है—"केवल तुम्हे देखने के लिए! मैं जानती थी कि तुम तुम युद्ध मे अवश्य सम्मिलित होगे—"

कल्याणी के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व एवं उसके कोमल हृदय को उसके निकटतम सम्बन्धियों ने नहीं पहचाना। चन्द्रगुप्त की बात न मान कर उसके पिता ने उसके अनुरोध की अवहेलना की और चन्द्रगुप्त उसके प्रेम को उसके जीवन के अन्तिम क्षण मे ही पहिचान सका। कल्याणी के करुणा-कलित हृदय का परिचय हमे उसकी एक स्वगतोक्ति मे मिलता है—

'मेरे जीवन सुख के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र-विलास सी चन्द्रगुप्त की छवि, और पर्व्वतेश्वर से प्रतिशोध, किन्तु राजकुमारी आज अपने ही उपवन मे बंदिनी है। जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है।" कल्याणी ने जीवन में पर्व्वतेश्वर से भरपूर प्रतिशोध लिया। पशु के समान विलासी और मद्यपी पर्व्वतेश्वर उसे अपने विलास की सामग्री, बलपूर्वक बनाना चाहता था। यह उसे असह्य हो उठा और उसने उसका वध कर अपना प्रतिशोध पूरा किया।

चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम की अनन्यता होते हुए भी पितृ-भक्ति और आत्म-सम्मान की भावना के कारण उसने उस प्रेम-पीड़ा को भी दबा दिया। चन्द्रगुप्त उसके पिता नंद का विरोधी था, अत वह उसके साथ परिणय न कर आत्महत्या कर लेती है।

कल्याणी का चरित्र आदि से लेकर अन्त तक द्वन्द्व एवं दुःख से पूर्ण है। उसने नारी होते हुए भी साहस के साथ परिस्थितियों का सामना किया और आगे बढ़ने की चेष्टा की। अपने वंश की मर्य्यादा

और आत्म सम्मान को सदैव ऊँचा रखा और उसी की रक्षा हेतु आत्म बलि देकर उसने अपने दुःखमय जीवन का दुःखद अन्त किया। 'प्रसाद' जी कल्याणी का चन्द्रगुप्त से परिणय प्रदर्शित न कर उसके भावुक एवं बलिदानमय चरित्र के प्रति सामाजिकों की चिरकालीन सहानुभूति सचेष्ट कर देते हैं। कलात्मक दृष्टि से यह उनकी महान सफलता है।

—(•)—

मालविका

'चन्द्रगुप्त' नाटक के स्त्री-पात्रों मे मालविका के चरित्र का विकास और अवसान उसकी प्रथम स्वगतोक्ति के अन्तर्गत वर्णित उन फूलों के समान है जो 'हँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिरा कर मुरझा जाते हैं।' चन्द्रगुप्त के शब्दों मे वह 'स्वर्गीय कुसुम' है अत वह अलौकिक स्नेह, सहानुभूति एवं सेवा रूपी परिमल और पराग चतुर्दिक विकीर्ण करती हुई प्रेम और परमार्थ की वेदी पर आत्मबलि चढा कर अनन्त मे तिरोहित हो जाती है।

मालविका शस्य-श्यामल-सिंधु देश की निवासिनी है। वहाँ के सुसंस्कृत एवं प्रकृत वातावरण में वह रही है। कोई कुटुम्बी, उसका पृष्ठपोषक नहीं है, किन्तु उसकी सहानुभूति प्रत्येक सात्विक संवेदना-पूर्ण व्यक्ति के साथ है। 'तक्षशिला मे राजकुमारी अलका से कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वहीं रहने लगी।' फिर मालविका घायल सिंहरण की सेवा के लिए नियुक्त हुई और उनकी सहृदयता से भी वह अत्यन्त प्रभावित हुई। वह जिनके भी सम्पर्क मे आती है उनके साथ उनकी प्रगाढ आत्मीयता हो जाती है, जो उसके सरल एवं सहानुभूति-पूर्ण हृदय की परिचायक है। मालविका को किसी से द्वेष तथा किसी से भय नहीं है। वह विपन्न की सेवा ही अपना मुख्य धर्म समझती है। मालव के युद्ध में घायलों की सेवा का कार्य अपने ही हाथ में लेती है। सच्चा सेवा-व्रती किसी भी प्रकार की हिंसा से अपने को बहुत दूर रखेगा। वह शस्त्र-बल से नहीं आत्मबल से सेवा-व्रत-धर्म पालन करता है। सच्चे अहिंसावादी एवं सेवा व्रती का यही यथार्थ स्वरूप है। मालविका उसका अच्छा उदाहरण है। वह प्राणों के भय से छुरी

या शस्त्र रखने मे नही डरती। प्राण तो उसके लिए 'धरोहर है, जिसका होगा वही ले लेगा, भय से इसकी रक्षा करने की आवश्यकता' वह नहीं समझती। सेवा-व्रती होने के कारण वह अलका के समक्ष रक्त की प्यासी छुरी से घृणा करती है एव डरती है।

मालविका की सहानुभूति तो सबके साथ है किन्तु उसकी प्रणय भावना चन्द्रगुप्त के प्रति ही जाग्रत होती है। वह चन्द्रगुप्त की वीरताव्यंजक मनोहर मूर्ति को प्रथम दर्शन के पश्चात् ही उसे अपने स्नेह से स्निग्ध हृदय मे अधिष्ठित करती है। चन्द्रगुप्त भी उसकी सरलता पर मुग्ध होता है। सात्त्विक प्रेम अपने आलंबन के उत्कर्ष का अभिलाषी होता है और वही आश्रय को भी प्रेमालबन के सहकार के लिए प्रेरित करता है। मालविका मे चन्द्रगुप्त के प्रति सात्विक प्रेम है। वह चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष के लिए असत्य बोलने लिए भी तैयार हो जाती है। चाणक्य के आदेश से वह नन्द की रंगशाला मे जाती है। वहाँ वह छल पूर्ण अभिनय द्वारा नंद के हृदय मे राक्षस के प्रति द्वेष और दुर्भाव जाग्रत करती है। मालविका का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम वासना रहित है। वह *चन्द्रगुप्त को 'साधारण-जनसुलभ दुर्बलता' से बचाती है।* उसका प्रेम नैतिक दृष्टि से आदर्श रूप मे अङ्कित है।

प्रेम का चरम उत्कर्ष आलंबन की निरन्तर कामना करते हुए उसके लिए आत्म-विसर्जन कर देने में है। मालविका अपने प्रेम मे उसी स्थिति को प्राप्त करती है। आर्य चाणक्य की आज्ञा है— 'आज घातक इस शयनगृह में आवेंगे, इसलिए चन्द्रगुप्त यहाँ न सोने पावे और वे षड्यन्त्रकारी पकड़े जाँय।'' अपनी मृत्यु को निश्चित जानकर भी वह सहर्ष प्राणान्तकारी परिस्थितियों में अपने को रख देती है। इस प्रकार प्रेम की वेदी पर आत्म बलिदान देकर मालविका परम गौरवपूर्ण पद प्राप्त करती है।

अलका

स्वदेशानुराग, साहस, वीरता एवं चातुर्य से विभूषित अलका को 'चन्द्रगुप्त, की प्रभावशाली व्यक्तित्वयुक्त स्त्री-पात्र जोन-आफआर्क (Jone of Arc) कह सकते है। अलका सिंहरण, चन्द्रगुप्त और चाणक्य से प्रभावित हो स्वदेश-सेवा को अपना लक्ष्य निर्धारित करती है उसके पिता और भाई विदेशियों स अभिसंधि कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु वह यवन अभियान द्वारा प्रतिफलित भारत की दुर्दशा का अनुमान कर उसे रोकने के लिए दृढ़- प्रतिज्ञ होती है। वह अपने परिवार के देशद्रोह की सरिता को रोकने के लिए चट्टान रूप दृढ़ हो जाती है। उसका भाई यवनों की सहायतार्थ उद्भाण्ड मे सिंधु पर सेत बनवा रहा है अलका उसका मानचित्र बनवाकर देशभक्त सिंहरण को देती है। इस मानचित्र के ही प्रसंग मे उसकी निर्भीकता, साहस एवं चातुरी का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। उसने यवन को अपने साहस और निर्भीकता से ही मालविका से मानचित्र हस्तगत करने से रोका। वह सिंहरण के सहयोग से अपने उद्देश्य मे पूर्ण सफल होती है और वह मानचित्र सिंहरण को सौंप कर अपने प्रथम उत्तरदायित्व को सफलता पूर्वक निभाती है।

वह स्वदेश-हित अपने परिजनों से विद्रोह कर प्राणपण से देश सेवा और देशरक्षा के कार्य मे लगती है। वह दाण्ड्यायन से चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विषय मे जो शंका व्यक्त करती है वह उसकी उत्कट देशभक्ति की परिचायक है। अलका विविध परिस्थितियों मे अपने क रखकर देश सेवा के लिए उद्योग करती है। वह पर्व्वतेश्वर की सेना में नट-नटी के रूप में जाकर सफलता पूर्वक अपना कार्य्य करती है।

अलका मालव दुर्ग की रक्षा में एक सैनिक की भाँति तत्पर है। अपने पराक्रम से ही अनेक यवन सैनिकों को धराशायी कर वह सिकन्दर पर भी प्रहार करती है। अलका सिल्यूकस के आक्रमण के समय आर्य्य पताका लिए स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए एवं अपनी ओजस्विनी वक्तृताओं द्वारा जनता में उत्साह फैलाते हुए सैन्य संगठन का कार्य्य करती है। आम्भीक भी उसके इस स्वदेशानुरागपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने पूर्व कार्य्यों के लिए लज्जित होता है। स्वयं चाणक्य अलका के स्वदेश हित त्याग और कष्ट के लिए भूरि भूरि सराहना करता है।

"मेरी लक्ष्मी—अलका ने आर्य्य गौरव के लिए क्या क्या कष्ट नहीं उठाए।"

'प्रसाद' ने अलका के चरित्र में उसके प्रेम का आलम्बन उसी के समान स्वदेशानुरागी साहसी एवं वीर व्यक्ति रखा। सिंहरण और आम्भीक की बातचीत ही में अलका प्रथम की निर्भीक स्वतंत्र एवं साहसी प्रकृति से परिचित होकर उसके प्रति आकर्षित होती है। अनेक बार के सहवास से परस्पर घनिष्टता बढ़ जाती है। पर्व्वतेश्वर के कारागार में तो पारस्परिक प्रेम का स्पष्ट परिचय दोनों को मिलजाता है। चाणक्य ने दोनों को वैवाहिक बन्धन में समारोह पूर्वक बाँध कर उसके प्रेम की सार्थकता सिद्ध की।

अलका में वाक्चातुरी तथा कार्य्य कुशलता यथेष्ट परिमाण में है। वह वन-प्रदेश में सिल्यूकस को चकमा देकर उसके चंगुल से निकल जाती है। पर्व्वतेश्वर को अपने वाग्जाल में फाँस कर वह थोड़े समय के लिए पंचनद की अर्धाश्वरी बनती है तथा इस प्रकार वह सिंहरण को कारागार से मुक्ति दिलाकर पर्व्वतेश्वर की सिकन्दर के लिए सैनिक सहायता भी बहुत कुछ रुकवा लेती है। समष्टि रूप से 'चन्द्रगुप्त' में अलका के चरित्र का सफल निर्वाह हुआ है।

स्कन्दगुप्त

स्कन्दगुप्त नाटक का धीरोदात्त नायक है। वह गम्भीर, धैर्यवान, पराक्रमी, शीलवान, विनीत, दृढ़संकल्पवान, निरभिमान और मृदुभाषी है। 'प्रसाद' ने उसके महान व्यक्तित्व में अनासक्तिमय प्रत्यक्ष कर्मवाद की मंजुल झाँकी प्रस्तुत की है। निष्काम भाव से जीवन के कठोर कर्म-क्षेत्र में वह अवतीर्ण होता है। जल में कमल-पत्र की भांति निर्लिप्त भाव से वह जीवन के विविध व्यापारों में निरन्तर संघर्ष करता है। अन्त में वह अपने अतुलनीय पराक्रम से उपार्जित साम्राज्य को अपने भाई पुरगुप्त को दानकर पूर्णतया निष्काम हो जाता है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में डा० जगन्नाथ प्रसाद का यह गम्भीर निष्कर्ष सर्वथा मान्य है—"नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधारणीकरण का सुन्दर समन्वय किया है"।

तितिक्षा और विराग की अविरल धारा में स्नान करते हुए भी स्कन्दगुप्त आर्य साम्राज्य के संगठन, रक्षा और उद्धार में जिस साहस, धैर्य पराक्रम और उत्साह से प्रवृत्त होता है वह उसके व्यक्तित्व की महान विचित्रता है। सम्राट होकर भी साधारण सैनिक जीवन की स्पृहा, विपत्तियों के वात्याचक्र में फँसे रहने पर भी शरणार्थी की सहायता के लिए सद्य: प्रस्तुत होना, गुरुजनों एवं परिजनों के प्रति सदैव शील एवं विनययुक्त आचरण करना भारतीय आदर्श जीवन के अनुपम उदाहरण हैं। स्कन्दगुप्त अपने शील सौजन्य, उदारता एवं कर्त्तव्य—निष्ठा आदि से भारतीयता का प्रतीकबन जाता है।

स्कन्दगुप्त के चरित्र में आरम्भ से ही विरागपूर्ण भावना का चित्रण है। अधिकार—सुख को वह मादक और सारहीन समझता है। कठोर कर्म

व्यवसाय के बाद भी उसमें वैराग्य का उन्मेष होता है। मालव-युद्ध में अपूर्व पराक्रम से शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी को प्रताडित करने के बाद वह चक्रपालित से कहता है—'चक्र ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पडे। साहसपूर्ण शौर्य सापेक्ष कार्यारम्भ में भी उसकी तितिक्षा मुखरित हो उठती है। देवसेना की प्रपंच बुद्धि के हाथों से, रक्षा करने के पूर्व वह कहता है—'इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए—केवल गुप्त सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्य पूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रखा है।' वह जीवन के घोर संकटमयकाल में कामना करता है—"बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए।' स्कन्दगुप्त के जीवन में उसकी वैराग्य प्रधान चिन्तना नाटक की एक समस्या है। यह प्रश्न होता कि स्कन्दगुप्त जैसा वैरागी क्या नायक होने के उपयुक्त है? अथवा उसका वैराग्य भावना क्या एक पाखंड है? अधिकार सुख के प्रति उदासीनता प्रकट करनेवाला, मालव का सिंहासन क्यों चुपचाप स्वीकार कर लेता है। संघर्ष पूर्ण जीवन को विडम्बना समझने वाला स्कन्द क्या गुप्त साम्राज्य के लिए घर और बाहर युद्ध करने के लिए कमर कसे तैयार रहता है। योगियों की समाधि चाहने वाला स्कन्द क्यों देवसेना से एकान्त जीवन बिताने की प्रार्थना करता है, आदि आदि। स्कन्दगुप्त के वैराग्य और कर्म व्यापार की यथार्थता समझने के लिए हमें 'प्रसाद' का आदर्श और स्कन्दगुप्त कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियां समझना होगा।

"प्रसाद" के आदर्श में आकांक्षा और आसक्ति मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधक है। इन्हीं के फेर में पड़कर मानव दानव हो सकता है इनसे परे रहकर जीवन-व्यापारों में संलग्न मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य—इस लोक का सुख और परलोक की गति—प्राप्त करता है प्राचीन भारतीय इतिहास में जनकराज विदेह आदि के जीवन चरित्र इसी प्रकार के थे।

स्कन्दगुप्त का राजसी जीवन आकांक्षा और आसक्ति विहीन है। जिस अधिकार सुख के प्रति उदासीनता उसने आरम्भ मे व्यक्त की उसी का चरमरूप हम नाटक के अन्त मे पुरुगुप्त को साम्राज्यदान में देखते हैं। मालव का सिंहासन वह अधिकार सुख के लिए नहीं वरन् सैनिक रूप में साम्राज्य सेवा के लिए स्वीकार करता है।

मालव मे राज्याभिषेक के अवसर पर उसने गोविन्दगुप्त से यही बात कही—'इस समय मैं एक सैनिक बन सकूँगा सम्राट नहीं।' स्कन्दगुप्त के अन्त:करण मे आदर्शों एवं कार्य व्यापार के बीच सतत द्वन्द्व है। उसके कार्य आदर्शोन्मुख हैं। आदर्शों की छाप उसके चरित्र का सौन्दर्य है। युद्धव्यापार प्रधानत हिंसापूर्ण है। हिंसा प्रकृति सम्मत नहीं है। मानव-हृदय स्वभावत परस्पर प्रेम प्रसार द्वारा जीवन के समस्त व्यापार सम्पादित करने का अभिलाषी है। इसमे उसे चिर-सुख और शान्ति मिलती है। अधिकार सुखों के प्रति उदासीनता के साथ हिंसक जीवन के प्रति (स्कन्द के अन्तःकरण मे) उपेक्षा के मूल मे यही भाव है। वह प्रकृति के मनोरम, शीतल सुखद वातावरण के समान जीवन का शान्ति और शीतलता का नीड बनाना चाहता है। युद्ध-व्यापार मे उसकी प्रवृति परिस्थिति जन्य है। आदर्श की जिस उच्चभूमि तक स्कन्द का हृदय पहुंच चुका है वह समाज की सामान्य स्थिति के पहुँच के बाहर है। अत शान्ति और व्यवस्था के लिए वह उस स्थिति के अनुरूप व्यवहार करता है। नाटक में वर्णित स्कन्दगुप्त कालीन राजनैतिक स्थिति इतिहास-सम्मत है। साम्राज्य में अनंतदेवी और पुरगुप्त के कारण अन्तर्दाह की ज्वाला धधक रही थी। भारत के उत्तर-पश्चिम भाग पर हूणो के विकट आक्रमण हो रहे थे। ऐसी स्थिति में स्कन्दगुप्त यदि कोरा आदर्शवादी बनकर देश की राजनीति मे निरपेक्ष हो जाता तो निस्सन्देह वह अत्यन्त निकम्मा सिद्ध होता। 'प्रसाद' ने आदर्श की प्रतिष्ठा निरपेक्ष जीवन में नहीं की।

मानव-जीवन के घोर संघर्षों एवं विकट स्थितियों में ही उनके आदर्शों का सौन्दर्य निखरता है। स्कन्दगुप्त जीवन में आदर्शानुकूल ही आचरण करता है। वह शर्वनाग, भटार्क, अनन्तदेवी आदि को उनके द्वारा अनेक जघन्य कार्य्य किए जाने पर भी क्षमादान द्वारा दण्डित करता है। शारीरिक यातना से मानसिक परिवर्तन उतना अधिक सम्भव नहीं जितना हृदय पर सीधे प्रभाव डालने वाले मानवोचित आदर्श व्यवहारों से। साम्राज्य के विरोधी अपने दुराचरण में आगे न बढ़ने पावें इसलिए स्कन्द का प्रत्यक्ष रूप से कर्मक्षेत्र में आना वांछित है इसके पश्चात् तो विरोधियों के हृदय पर विजय प्राप्त करना ही उसकी सच्ची जीत है। अनन्तदेवी, भटार्क, पुरगुप्त एवं विजया आदि सच्चे रूप में खेद प्रकाशन कर साम्राज्य-विरोध त्याग देते हैं और स्कन्द के आदेशानुसार व अपनी जीवन-गति में परिवर्तन करते हैं। स्कन्दगुप्त के आदर्शानुकूल यह उसकी महान विजय है। स्कन्द के चरित्र से 'प्रसाद' ने जीवन के विभिन्न व्यापारों में आदर्शों की प्रतिष्ठा कर उन्हें लोकोपयोगी सिद्ध कर दिया है।

स्कन्दगुप्त कोरा आदर्शवादी नहीं है। वह एक साहसी एवं वीर सैनिक, चतुर सेनानी और सच्चा आर्तपरायण है। घोर विपत्तियों में फंसे रहने पर भी वह शरणागत की रक्षा के लिये तत्काल सन्नद्ध हो जाता है। मालव के लिए स्कन्द गुप्त का युद्ध-यात्रा इसका परिचायक है। हूणों से डटकर लोहा लेना और उन्हें बारम्बार निताड़ित कर भगा देना उसके प्रचण्ड पराक्रम, रणकुशलता और वीरता के द्योतक हैं। देवकी की हत्या के प्रयास में भटार्क को विफल मनोरथ करना और प्रपञ्च बुद्धि के हाथों से देवसेना को मुक्त करना स्कन्द के अदम्य साहस के प्रबल प्रमाण हैं। आर्तपरायण तो वह ऐसा कि पूर्णतया पराजित, निराश्रय एवं एकाकी स्थिति में होने पर भी, हूणों द्वारा पीड़ित देवसेना की आर्त वाणी को सुनते ही वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक वेदनाओं को भुला देता है, और उसकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ता है।

स्कन्दगुप्त जैसा शक्तिशाली और स्वरूपवान है वैसा ही वह शीलवान् भी है। चक्रपालित, स्कन्दगुप्त की गम्भीरता को यथार्थ रूप से नहीं पहिचानता। वह स्कन्दगुप्त को उत्तेजित करने के लिए जब मर्यादा विरुद्ध एवं उत्तेजनापूर्ण बात कहता है तो पर्णदत्त उसे डाँटने लगता है। स्कन्दगुप्त तत्काल चक्रपालित की ओर से सफाई देता हुआ पर्णदत्त से क्षमा माँगता है-

"आर्य्य पर्णदत्त! क्षमा कीजिए। हृदय की बात को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता है।"

मित्र के दोषों का परिहार उच्च शील का परिचायक है। स्कन्दगुप्त अपनी माता का अनन्य भक्त तो है ही वह अपनी विमाता अनन्त देवी को भी जघन्य अपराध करने पर छोड़ ही नहीं देता वरन् उसे स्वेच्छानुसार कार्य्य करने का अवसर देता है—"अनन्तदेवी! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता।" अपने पितृव्य गोविन्दगुप्त के दीर्घकाल पश्चात् पुनर्मिलन से जो आदरपूर्ण अनुराग का स्फुरण स्कन्द के हृदय में उनके प्रति होता है वह उसके शील का मनोहर उदाहरण है। स्कन्दगुप्त राजसभा में गोविन्दगुप्त के प्रवेश करते ही खड़ा होकर कहता है—"तात! कहाँ थे? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे?" स्कन्द की इस उक्ति के प्रत्येक शब्द से उसकी करुणोत्पादक विनम्रता व्यंजित होती है।

उदारता शील के अन्तर्गत ही मान्य है। स्कन्दगुप्त के चरित्र में उसकी उदारता के अनेक उदाहरण हैं। देवसेना को प्रपञ्चबुद्धि से बचाने में सहायता देने के कारण स्कन्द, मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त करता है। साध्वी रामा की अटल स्वामिभक्ति के कारण स्कन्द उसके पति शर्वनाग को जघन्य अपराधों के लिए क्षमा कर उसे अन्तर्वेद का विषयपति बना देता है। अन्त में जीवन के अनेक संघर्षों एवं विषम परिस्थितियों से प्राप्त साम्राज्य को पुरगुप्त के लिए दान कर देना तो उसकी महान् उदारता का उज्ज्वलतम उदाहरण है।

स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व में राष्ट्रप्रेम और स्वजाति-हित कामना तो कूट कूट कर भरी है। वह राष्ट्र की रक्षा, व्यवस्था और उसके उद्धार के लिए आजीवन नाना प्रकार के सकटों का साहसपूर्ण सामना करता है। कुभा की प्रखर धारा से निकल आने के पश्चात् देश की दुर्दशा ही उसे सबसे अधिक व्यथित करती है। देश की दुरवस्था उसके हृदय को करुणाप्लावित कर देती है और वह मानो रो उठता है--"परन्तु यह ठोकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आखों को देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष, गुप्त-साम्राज्य हरा भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो"—स्कन्दगुप्त के पुरुषार्थ, सङ्गठन एवं व्यवस्था से भीम-वर्मा के कथनानुसार—"आर्य्य साम्राज्य का उद्धार हुआ है। × × × सिंधु के प्रदेश से म्लेच्छराज ध्वस्त होगया है। × × × गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता है। लौहित्य से सिंधु तक, हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा। × × ×

'प्रसाद' जी ने स्कन्दगुप्त के चरित्र में अनासक्तिमय कर्मयोग के अतिरिक्त उसके जीवन का मधुरपक्ष भी अङ्कित किया है। स्कन्दगुप्त अपने प्रणय-भाव में भी अपनी प्रकृति के अनुसार गम्भीर एवं सयत है। प्रेम का उदय सामान्य मानव जीवन में रूप एवं गुणों के प्रति आकर्षित होने से होता है। प्रारम्भिक वय में रूप का विशेष प्रभाव पड़ता है। स्कन्दगुप्त अपनी प्रारम्भिक वय में मालव में विजया को देखकर उसके रूप से प्रभावित होता है। अपनी सहज गम्भीरतावश वह उसके विषय में केवल इतना ही पूछता है 'यह कौन ?' विजया सदृश साधारण रमणी के लिए स्कन्द के हृदय की गभीरता का अवगाहन कर उसके अन्तर में अपने प्रति अंकुरित प्रणय भाव को पहिचानना तो बहुत दूर की बात है

देवसेना तक इस बात को आगे की घटनाओं से ही जान पाती है।

स्कन्द के प्रणय में समुद्र की सी विशालता और गम्भीरता है। विजया उसके सामने भटार्क को अपना पति वरण करती है। स्कन्द का प्रणय-सिंधु क्षुब्ध हो उठता है और सहसा यह ध्वनि उसके मुख से निकल ही पड़ती है—"परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया।"

देवसेना इस उक्ति का मर्म अवगत कर ही कहती है—"(स्वगत) आह! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है। विजया! आज तू हार कर भी जीत गई।" विजया स्कन्द के कोमल मर्म पर यह प्रथम आघात करती है। आगे चल कर वह देवसेना की हत्या के प्रयत्न में वह कार्य करती है जिससे प्रभावित हो स्कन्द को बरबस यह कहना पड़ा—"विजया जिसे हमने सुख शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्तदाह करना चाहती है।" स्कन्द सदृश, विचारशील व्यक्तियों के लिए केवल रूप ही स्थायी प्रणय का आधार नहीं होता। उसके लिए अनुकूल गुण भी आपेक्षित हैं। स्कन्दगुप्त विजया की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही उसे अपने प्रणय के अयोग्य ठहराता है।

स्कन्दगुप्त के सम्पर्क में आने वाली दूसरी कुमारी देवसेना है। विजया के प्रति पहिले ही सहसा प्रणय-भाव जागृत हो जाने के कारण चारित्रिक मर्य्यादा की दृष्टि से देवसेना की ओर वह प्रेम भाव से नहीं देखता है। वह विजया का ही स्वप्न देखता रहता है। किन्तु उस स्वप्न के भंग होते ही उसे अपने प्रणय क्षितिज में एक नवीन ज्योति पुंज का प्रत्यक्ष आभास प्राप्त होता है। स्मशान में देवसेना मृत्यु के मुख में पड़ी हुई केवल उसका ही ध्यान कर रही है—"प्रियतम! मेरे देवता युवराज!! तुम्हारी जय हो।" स्कन्दगुप्त वहीं छिपा हुआ यह देख रहा है। उत्तरापथ में सुशासन की व्यवस्था में व्यस्त होने के कारण तथा तत्पश्चात् ही हूणों से पुनः संग्रामरत होने के कारण स्कन्दगुप्त को एक लम्बे अर्से तक देवसेना से मिलने का अवसर नहीं मिलता। वह उससे

स्मशान वाली घटना के बाद कुभा की क्षुब्ध लहरों से निकल आने पर ही मिलता है। स्कन्दगुप्त देवसेना से इस पुनर्मिलन के अवसर पर एकान्त में, किसी कानन के कोने में उसे देखता हुआ जीवन व्यतीत करने की अपनी कामना प्रकट करता है और अपना सम्पूर्ण ममत्व उसे सौंप देना चाहता है। देवसेना के प्रति उसका आकर्षण उसके अलौकिक गुणों के कारण है। कालगत अनुभव से स्कन्द यह पहिचान लेता है कि देवसेना—'इस नन्दन की बसंत श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी' है।

'प्रसाद' जी ने स्कन्दगुप्त के चरित्र में अनासक्तिमय कर्मयोग के अतिरिक्त पूर्व कथित जो मधुर-पक्ष चित्रित किया है वह भी उसके जीवनादर्शों के अनुरूप ही है। प्रेमालम्बन रूप मे विजया सदृश रमणी उसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। देवसेना के प्रति उसका प्रेम गम्भीर और वास्तविक है। स्कन्दगुप्त ने देवसेना से विवाह रूप में बंधुवर्म्मा की इच्छापूर्ति तथा उनसे उऋण होने की जो बात कही उसमें स्कन्द की लोकदृष्टि और कृतज्ञता का सात्त्विक भाव सुनिहित है। इससे उसका प्रणय फीका नहीं पड़ता है।

स्कन्दगुप्त के महान चरित्र की विशेषताएँ हम उसके अन्य प्रमुख पात्रों से भी सुनते हैं। पितृराजपुत्र गोविन्दगुप्त उसे 'आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति गुप्त-कुल-तिलक कहकर सम्बोधित करते हैं और स्कन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आशीर्वाद देते हैं—'यह रत्न, यह गुप्त-कुल के अभिमान का चिन्ह, सदैव यशोमंडित रहेगा।' मालव-नरेश बन्धुवर्म्मा स्कन्दगुप्त के पराक्रम, राष्ट्रहित-कामना और त्यागमय जीवन से प्रभावित है। वह उसके प्रति अपने अन्तःकरण के भाव अपनी स्वगतोक्ति में इस प्रकार व्यक्त करता है—"उदार-वीर हृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्यावर्त का एक मात्र आशास्थल, इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अंकित है। अन्तःकरण

BH. UNIV. LIBRARY SYSTEM

में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवनपूर्ण ज्योति है।" बन्धुवर्म्मा स्कन्दगुप्त के चरित्र की इन महानताओं को ही लक्षित कर अपना राज्य और जीवन उसके चरणों पर न्योछावर कर देता है। वह यह भलीभाँति अनुभव कर लेता कि "आर्य्यावर्त का जीवन केवल स्कन्द-गुप्त के कल्याण से है।" अत: उसका स्कन्द के लिए राज्य एवं जीवन का उत्सर्ग स्वाभाविक एवं यथार्थ है।

देश में हूणों का आतंक फैलने पर विभिन्न लोग स्कन्दगुप्त के नाम पर आँसू बहाते हैं। मातृगुप्त 'प्रवीर उदार-हृदय स्कन्दगुप्त कहाँ हैं', कह कर चारों ओर विलख रहा है। रामा शोकाकुल अर्धविक्षिप्तावस्था में स्कन्दगुप्त के संबंध में कारुणिक प्रलाप कर रही है—"वही स्कन्द, रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्या-वर्त की छत्रछाया।" स्कन्दगुप्त के विरोधी भी उसके अभाव में उसके लिए ग्लानियुक्त पश्चाताप करते हैं। भटार्क कहता है—'ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और परोपकारी सम्राट्। परन्तु गया—मेरी ही भूल से सब गया।" सिंहल-राजकुमार धातुसेन के शब्दों में 'आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज स्कन्द है।'

———

भटार्क

मगध का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क स्वाभिमानी, महत्त्वाकांक्षी, दृढ़प्रतिज्ञ और साहसी है। उसमें विवेक, शालीनता और गुणों को बहुधा पहिचानने की शक्ति भी आंशिक रूप में है। फिर भी वह अपने कुत्सित कर्मों की अवतारणा से उस साम्राज्य का एक लम्बे समय तक शत्रु ही सिद्ध होता है जो उसके बाहुबल पर विश्वास कर उसे महाबलाधिकृत पद से सम्मानित करता है। भटार्क के चरित्र में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा है। दोनों मे यथावसर द्वन्द्व भी होता है किन्तु जीवन के पूर्व भाग मे वह असद् वृत्तियों के प्रवाह में ही बहता है। जीवन के आरम्भ में कुसग का प्रभाव उसकी असद्वृत्तियों को प्रोत्साहन देता है। अन्त में घटनाओं के घातप्रतिघात और सत्संग के प्रभाव से ही उसमें सद्‌वृत्तियों का स्फुरण होता है और वह सन्मार्ग ग्रहण करता है। भटार्क के चरित्र में यथास्थान द्वन्द्व का चरित्र होने के कारण वह रोचक एवं उपयोगी है।

भटार्क में महत्त्वाकाक्षा मानों जन्मजात है। वह नाटक मे प्रवेश करते ही उन्नत पद के लिए आकुल दिखाई पड़ता है। वह चंचल शकराष्ट्र–मडल के लिए सुयोग्य सेनापति भेजने की सम्मति देने के व्याज से अपने ही लिए सिफ़ारिश करता है। उसकी अनावश्यक उत्सुकता को लक्षित कर ही पृथ्वीसेन उसको टाल देता है। भटार्क में स्वाभिमान की मात्रा भी बहुत अधिक है। वह पृथ्वीसेन के विरोध को अपना अपमान मानकर उसका प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। अनंतदेवी से वह कहता है—'महादेवी ! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और

व्यंगवाण मुझ पर बरसाए गए हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूंगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे।' भटार्क अनन्तदेवी से प्रभावित है। अनन्तदेवी की कृपा से ही उसे महाबलाधिकृत का पद मिलता है। अतः भावनाओं के आवेश में पूर्वापर परिस्थितियों का विचार गंभीरतापूर्वक बिना किये ही वह अपने जीवन का महत्वपूर्ण निश्चय कर डालता है। भटार्क अनन्तदेवी के वाग्जाल में फँसकर पुरगुप्त को मगध के सिंहासन पर बैठाने के लिए प्रतिश्रुत होता है। उसके जीवन की यह सबसे बड़ी भूल है।

कुसंग में एक बार पड़ जाने से मनुष्य को शीघ्र छुटकारा नहीं मिलता। विपरीत मार्ग ग्रहण कर लेने के कारण उसके सद्‌गुण भी लोक पीड़ा को बढ़ाने वाले हो जाते हैं। स्थिरमति, दृढ़प्रतिज्ञ, साहसी भटार्क एक बार अपने प्रचंड पराक्रम और कूट-कौशल द्वारा साम्राज्य के अन्दर अन्तर्द्रोह की ज्वाला फैलाकर समस्त देश को कम्पायमान कर देता है। कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण मृत्यु, देवकी को हत्या का षड्‌यन्त्र, मालव में स्कन्द के विरुद्ध षड्‌यन्त्र की योजना, प्रपचबुद्धि द्वारा देवसेना की हत्या का प्रयास, इन सभी रोमांचकारी घटनाओं में भटार्क का हाथ है। नगरहार के युद्ध में तो भटार्क की पिशाच लीला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। वह हूणों को सुरक्षा का मार्ग बताकर कुभा बाँध ठीक मौके पर तोड़ता है और स्कन्द अपनी सेना सहित उसमें बह जाता है। भटार्क में प्रतिभा और शक्ति है। दुर्भाग्य की बात है कि वह उसका दुरुपयोग करता है।

भटार्क प्रकृति सिद्ध नीच नहीं है। महादेवी देवकी की हत्या के प्रयास में उसकी निर्मम कठोरता को छोड़कर हम प्रत्येक निरपराध हत्या अथवा मृत्यु के अवसर उसकी अन्तःस्थित मानवता का दर्शन करते हैं। महाप्रतीहार, महादंडनायक और महामन्त्री द्वारा आत्म-हत्या करने के पश्चात् हम भटार्क को वास्तविक खेद करते हुये पाते हैं—'परन्तु भूल

हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक।' देवकी की हत्या के प्रयत्न में, तथा मालव में स्कन्द के राज्यारोहण के समय षड्यन्त्र रचने के प्रसगों मे बन्दी बनाकर स्कन्द द्वारा छोड़ दिए जाने के कारण भटार्क का हृदय स्कन्द के प्रति उपकारों के बोझ से दब जाता है। वह प्रपंचबुद्धि के समक्ष खुले हृदय से स्वीकार करता है 'मेरी वीरता पर दुर्वह उपहार का बोझ लाद दिया।' कृतज्ञता, सात्विक हृदय की सहज अनुभूति है। उसके यथार्थ रूप से उदय हो जाने पर मनुष्य कुमार्ग की ओर सहसा पैर नहीं रखना चाहता। भटार्क भी प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की बलि प्रस्तावना सुनकर आकुल हो उठता है—"....मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कन्दगुप्त से, मैं किस मुँह से... नहीं, नहीं ।" यहाँ पर उसके हृदय का अन्तर्द्वन्द्व बहुत स्वाभाविक है। अनन्तदेवी और पुरगुप्त से प्रति-श्रुति होने के कारण यथार्थ ही भटार्क की स्थिति 'पापपंक मे लिप्त मनुष्य' की भाँति है जिसे कभी छुट्टी नहीं।' अत कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश मे बाँध लेता है।' भटार्क नगरहार के युद्ध में स्कन्द के साथ विश्वासघात पाप-पंक मे लिप्त होने के कारण ही करता है। परन्तु उसके बाद ही पश्चाताप और अनुशोचन की वह भिच उसकी आँखों मे लगती है कि वे सदा के लिये खुल जाती हैं। कमला की भर्त्सनाएं उसके विवेक को सजग कर पुष्ट कर देती हैं और वह उसके बाद स्कन्द के समक्ष सच्चे हृदय से आत्मसमर्पण कर सदा के लिए साम्राज्य का शुभाकांक्षी हो जाता है।

भटार्क एक सैनिक है। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही उसे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिलता है। उसका लोहा भारत के क्षत्रिय मानते हैं। वह सैनिक की भाँति अनुशासन प्रिय भी है। एक बार शर्वनाग को अपने विश्वास में लेकर उसे भविष्य में विश्वासघात न करने के लिए सचेत करता है। भटार्क में सैनिक की भाँति कर्त्तव्य की दृढ़ता भी है। वह एक बार जो निश्चय

करता है, चाहे वह गलत हो या ठीक उस पर अन्त तक आरूढ रहता है। स्कन्दगुप्त के स्थान पर पुरुगुप्त को मूर्धाभिषिक्त करने की धुन में वह क्या नहीं कर डालता। फिर भी उसकी वीरता दोषमुक्त नहीं है। वह न्याय और अन्याय का बिना विचार किए केवल शस्त्रबल पर उसे आश्रित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त वह विलासिता को वीरता का भूषण मानता है। वह सैनिक से कहता है—"जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है? वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।' सम्भवतः इन्हीं भ्रान्तियों के कारण स्कन्दगुप्त और गोविन्दगुप्त के साथ उसे द्वन्द्वयुद्ध में पराजित होना पड़ता है।

भटार्क सैनिक तो अवश्य है पर राजनीति से सर्वथा अनभिज्ञ है। यह उसकी महान् भूल है कि राजनैतिक ज्ञान के अभाव में भी वह राजाओं का नियामक बन बैठता है। महामन्त्री पृथ्वीसेन आरम्भ में ही भटार्क को चेतावनी देता है—"परन्तु भटार्क! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल भुजंगी राष्ट्रनीति की प्राण देकर भी रक्षा करना।" भटार्क पहिले तो महामन्त्री के इस कथन को अवज्ञा के कानों से सुनता है। किन्तु नगरहार के युद्ध में आर्य साम्राज्य का सर्वस्वांत करने के पश्चात् विवेक के जागृत होने पर महामन्त्री के उपर्युक्त शब्द उसे स्मरण आते हैं। वह अनुभव करता है कि स्कन्दगुप्त ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्, उसकी भूल हो से गया।

भटार्क में यद्यपि कुसंगवश अनेक दुर्गुण आगए हैं। किन्तु उसका चरित्र कलुषित नहीं होता है। अनन्तदेवी कामपिपासा युक्त संकेतों से उसे अपनी ओर आकृष्ट करने की भरपूर चेष्टा करती है, किन्तु वह वास्तव में अपना चरित्र नहीं खोता है। नाटक के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य में यद्यपि वह अनन्तदेवी के साथ मद्य पान कर उसके संकेत पर जाता हुआ दिखाई पड़ता है और विजया इसी बात पर सन्देह कर

अनन्तदेवी से प्रणय-वंचना के लिए झगड़ बैठती है, किन्तु उसका वह सन्देह निराधार है। भटार्क विजया को पत्नीरूप में स्वीकार करता है और इस बात का दम वह अन्त तक भरता रहता है। स्कन्दगुप्त के समक्ष वह पति होने नाते ही विजया की भर्त्सना करता है—

विजया—कौन भटार्क !

भटार्क—हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरित्रे ! सुना था कि तुझे देश सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु 'हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति पाठ पढ़ेगी।"

भटार्क यदि वास्तव में दुश्चरित्र होता तो वह न तो पति होने का अपना दावा करता और न विजया को दुश्चरित्रता के कारण बुरा-भला ही कह सकता।

भटार्क मे शील और विनय का सर्वथा अभाव नहीं है। वह अपनी माता कमला की भर्त्सनाओं को नतमस्तक होकर सुनता है। और उन्हे हृदयंगम भी करता है। उज्जयिनी में वह अपनी माता से प्रभावित हो राजनैतिक प्रपंचों से हटकर घर चलने के लिए तैयार हो जाता है। दुर्भाग्यवश गोविन्दगुप्त के सहसा वहाँ पर आकर उसे बन्दी कर लेने के कारण उसका जीवन प्रवाह पूर्ववत् बना रहता है। नगरहार युद्ध के पश्चात् भटार्क अपनी माता के निन्दात्मक कठोर वचनों को सुनकर तो सदा के लिए अस्त्र ही त्याग देता है। वह अपनी माता की आशाओं को विफल नहीं करना चाहता है। वह संसार के समस्त लांछनों का अपनी माता के कारण ही तिरस्कार करता है। भटार्क की सच्चरित्रता और अटल मातृभक्ति ही उसे जीवन के सन्मार्ग पर लाकर खड़ा कर देती है। इनके अभाव मे वह संभवतः नर न होकर नर-पिशाच हो जाता।

भटार्क ने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध जो आचरण किया उसमे उसका स्कन्द के प्रति द्वेष नहीं है। वह तो स्कन्द के व्यक्तित्व एव वीरता से सदैव प्रभावित रहता था। सम्बन्ध-निर्वाह की दृढ़ भावना और राजनैतिक

भ्रान्तिवश ही वह साम्राज्य विरोधी कार्यों में संलग्न होता है। विवेक के सम्यक् रूप से जागृत होने पर वह स्कन्दगुप्त और साम्राज्य की सच्चे हृदय से सेवा करता है। विजया का शव गाड़ने के लिए भूमि खोदते हुए जो रत्नगृह निकलते हैं उन्हें लोभवश अपने पास न रखकर वह साम्राज्य-सेवा हित स्कंद को सौंप देता है और अन्तिम समय तक स्कंद का अनन्य भाव से अनुगामी बना रहता है।

पर्णदत्त

गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत पर्णदत्त स्वामिभक्ति, शूरता, साहस, धैर्य और कर्त्तव्य-परायणता का श्रेष्ठतम उदाहरण है। वह साम्राज्य की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील है और उस ओर दूसरों को उदासीन देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है। नाटक के आरम्भ मे ही 'अयोध्या मे नित्य नये परिवर्तन' और युवराज स्कन्दगुप्त की 'अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता' देखकर वह भविष्य के लिए आकुल और चिन्तित प्रतीत होता है। देश के लिए सच्ची मंगल भावना से प्रेरित होकर वह स्पष्टवादिता का आश्रय लेता है। स्कन्दगुप्त के समक्ष अपने यथार्थ मनोभावों को वह व्यक्त करता है—"युवराज इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।" स्कन्दगुप्त को प्रभावित और सचेष्ट करने के लिए पर्णदत्त व्यंग्य का भी प्रयोग करता है—"गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।' किन्तु इस व्यंग्य के मूल मे उपहास अथवा कोरी कदर्थना नहीं है, वरन् इसमे सच्ची देशभक्ति अन्तर्निहित है। पर्णदत्त स्कन्दगुप्त को प्रोत्साहित कर साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की सृष्टि नहीं करना चाहता। वह तो साम्राज्य का सेवक है। इस नाते यदि कोई दूसरा असावधानी से इस तरह की बात करता है जिससे विद्रोह की भावना हो, तो वह उबल पड़ता है। चक्रपालित ज्यों ही स्कन्दगुप्त और पर्णदत्त के समक्ष 'गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' की बात उठाता है वैसे ही पर्णदत्त उसे डाँट कर कहता है—"चक्र! यदि यह बात हो भी, तो तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के

सेवक हैं असावधान बालक ! अपनी चञ्चलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना।" पर्णदत्त के हृदय की सात्विकता, स्वामि-भक्ति एवं स्वदेश प्रेम इसी से व्यक्त होते हैं कि ज्योंही स्कन्द क्षात्रधर्म के अनुसार शरणागत रक्षा-हित मालव के दूत की सहायता का आश्वासन देता है त्योंही स्कन्द के लिए पर्णदत्त के मुँह से आशीर्वचन और साम्राज्य के लिए मंगलमयी कामना फूट पड़ती है।—'युवराज ! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्तसाम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होगी।' पुनश्च—'कुछ चिंता नहीं युवराज ! भगवान् सब मंगल करेंगे. . . ।'

नाटक में पर्णदत्त का सक्रिय युद्ध-व्यापार विशेष रूप से चित्रित नहीं है। द्वितीय अंक में चक्रपालित द्वारा यह सूचना मिलती है--'वह सौराष्ट्र की चञ्चल राष्ट्रनीति की देख रेख में लगे हैं" जो उसके महत्व का यथेष्ट परिचायक है। फिर भी उनके प्रचण्ड पराक्रम और अद्वितीय रण-कौशल का ज्ञान स्कन्द की उक्तियों द्वारा नाटक के आरम्भ में ही प्राप्त होजाता है। स्कन्द के शब्दों मे पर्णदत्त की 'लेखमाला वीरता की शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों मे लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं।" इस उक्ति मे चाटुकारिता नहीं है, वरन् गुणों की यथार्थ अनुभूति और अवसरानुकूल उनकी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार पर्णदत्त के एक कथन में भी उसके रणोत्साह के दर्शन होते हैं—"इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य्य-चन्द्रगुप्त की सेना का सञ्चालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीरसेना मे—उसी गरुड़ध्वज की छाया में—पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है।"

सङ्कट ही धैर्य्य और साहस की परीक्षा की कसौटी है। पर्णदत्त उसमे खरा उतरता है। वैभव और ऐश्वर्य के पश्चात् अकिंचन जीवन बड़े बड़े साहसियों एवं स्थिर मति वालों को भी विचलित कर देता है। ऐसी परिस्थिति में ही पुरुषार्थ एवं धैर्य्य द्वारा अपने सत्त्व को स्थिर रखने

में जीवन की महानता है। इस दृष्टि से पर्णदत्त का चरित्र अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

नगर के युद्ध मे स्कन्द के विलुप्त होने के पश्चात् साम्राज्य अत्यन्त अस्तव्यस्त दशा को प्राप्त हो गया। 'आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए रत्न एकत्रित किए.., वे सब निरवलम्ब हैं।' पर्णदत्त उन निराश्रितो के संगठन एवं उनकी सेवा का कार्य अपनाता है। उसके समक्ष अपार कठिनाइयाँ हैं। अन्न और वस्त्र की समस्या तो प्रधान है। अत. उसे 'सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती हैं। 'जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्ही कुत्सित अन्नों का संचय' उसे करना पड़ता है। अपनी इस अकिञ्चन दशा पर उसका हृदय विलख उठता है। किन्तु साहस और धैर्य का अवलम्ब लेकर 'बहुत से दुर्दशाग्रस्त वीर हृदयों की सेवा के लिए' वह मानसिक उथल-पुथल का समाधान करता है और उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने को कटिबद्ध होता है। वह नितान्त आशावादी है। उसे आशा है—'तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा।' अत: जिस काम को उसने कभी नहीं किया उसे भी करने को वह उद्यत हो जाता है। पर्णदत्त 'जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है।' वह सड़कों पर 'भीख दो बाबा! देश के बच्चे भूखे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा'' कहता हुआ भीख माँगता है। पर्णदत्त परिस्थितिवश परमार्थहित इस नितान्त गर्हित भिक्षावृत्ति का आश्रय लेता है। पर इस दशा मे भी वह आत्मसम्मान नहीं त्यागता। भिक्षा माँगने के लिए गीत गाती हुई देवसेना के प्रति अशिष्ट पुरुषों के कुत्सित शब्दों के सुनते ही उसका खून खौल उठता है। वह दाँत पीसकर ललकार उठता है—'नारकीय दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा। बालों को सँवार कर, अच्छे कपड़े पहन कर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है? ×××××× देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराला धज!'

देशवासियों की विलासिता और स्वार्थान्धता देखकर उसका हृदय प्रकृत्या विद्रोही हो उठता है। वह देवसेना से कहता है—"अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का।······विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है और दरिद्रों के लिए नहीं।" निश्चय ही उसके ऊपर सैकड़ों अनाथ भूख से तड़पते वीर बालकों का भार है। उसके हृदय में समाज की विलासप्रियता देखकर इस प्रकार के साम्य-वादी एवं विद्रोही विचारों का उदय होना स्वाभाविक है। पर्णदत्त की अवसर-जन्य परमुखापेक्षिता आदर्श सम्मत है। उसकी तत्परता और त्याग भावना से प्रभावित होकर जब लोग उसकी जयजयकार करते हैं तो वह, अपनी धुन का धनी, उसकी भी उपेक्षा करता है और देश के लिए त्याग और बलिदान की रट लगाता है—'मुझे जय नहीं चाहिए—भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिये, कोई देगा भीख में।' उसकी पुकार खाली नहीं जाती। स्कन्दगुप्त स्वयं प्रकट होकर अपने को समर्पित करता है। वीर हृदय की सच्ची कामना कभी निष्फल नहीं होती। पर्णदत्त का चरित्र इसकी पुष्टि करता है। उसने नाटक के आरम्भ में स्कंद के समक्ष सच्चे हृदय से कहा था—"अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है।" पर्णदत्त की यह कामना यथार्थरूप में प्रतिफलित होती है। हूणों से अन्तिम युद्ध में वह वीरता पूर्वक लड़ता है। सम्राट को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु होती है, गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है। पर्णदत्त का चरित्र, निस्सन्देह, अनुपम त्याग, कर्त्तव्यनिष्ठा, स्वदेशानुराग आदि आदर्श गुणों का सन्निधान है।

———

शर्वनाग

शर्वनाग सहजशूर, दृढ़ संकल्पवान, सरल और पुरुषार्थी है। उसकी जीवनधारा परस्पर दो विरोधी मार्गों में प्रवाहित होती है। पहिले वह भटार्क, प्रपंचबुद्धि एवं अनंतदेवी आदि के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो स्वार्थवश साम्राज्यविरोधी कार्य्य करता है। बाद में परिस्थितियों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होने पर वह आत्मसुधार कर साम्राज्य का सच्चा हितैषी बन जाता है।

भटार्क आदि के षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के पूर्व उसका अन्तःकरण शुद्ध और सात्विक है। उसे अपने पुरुषार्थ पर पूर्ण विश्वास है। वह किसी से भयभीत नहीं होता। प्रपंचबुद्धि के चौंकने पर वह कहता है—"परन्तु आप चौंकते क्यों हैं। मैं तो कभी यह चिंता नहीं करता कि कौन आया या कौन आएगा।.........मैं खड्ग हाथ में लिए प्रत्येक भविष्यत की प्रतीक्षा करता हूं। जो कुछ होगा, वहीं निबटा लेगा।" उसके इस कथन में उसकी निःशंक वीरता व्यंजित होती है।

शर्वनाग के अंतःकरण की शुद्धता का परिचय हमें महादेवी देवकी की हत्या वाले प्रस्ताव के उत्तर में मिलता है। भटार्क जब उक्त प्रस्ताव उसके समक्ष रखता है, तब वह अत्यन्त दृढ़ता और निर्भीकता से उसका विरोध करते हुए उत्तर देता है—"कायरता! अबला महादेवी की हत्या। किसी प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो..........नहीं भटार्क! लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्य्याप्त था। मुझ से यह काम नहीं होने का।"

शर्वनाग का अन्तःकरण साहसपूर्ण एवं विशुद्ध है किन्तु फिर भी वह कुचक्रियों के फेर में पड़ता है। इसके मूल में उसकी अर्थहीनता

तथा कुसंग का प्रभाव है। उसकी स्त्री के 'अभावों का कोष कभी खाली नहीं' तथा उसकी 'भर्त्सनाओं का भण्डार अक्षय है।' उसकी स्त्री रामा उसे नित्य ही कहती आती है कि 'तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है। शर्वनाग को एक सद्गृहस्थ की भाँति अपनी परिणीता भार्या के प्रति अहम्भावहीन प्रीति है। वह 'क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता है' परन्तु 'सिंहवाहनी' (अपनी स्त्री) को देखकर उसके "देवता कूच कर जाते हैं।" वह अपनी भार्या रामा से कहता है—'घबराओ मत समझाकर कहो।' अस्तु वह अपनी नारी की प्रेरणा से अपने को कुछ साबित करने के लिए ही कंचन प्राप्ति की चेष्टा करता है और उसके लिए कुकर्म में प्रवृत्त होता है। कुसङ्ग का प्रभाव भी उसके सरल हृदय पर शीघ्र पड़ता है और मदिरा पान करने पर तो वह सर्वथा विवेक-शून्य हो जाता है। इन्हीं परिस्थितियों में शर्वनाग महादेवी की हत्या के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

शर्वनाग के चरित्र में परिवर्तन, घटनाओं के घातप्रतिघात से तथा उच्च और महान् व्यक्तित्व के सम्पर्क में आने से होता है। महादेवी की हत्या के प्रयास में वह स्कन्द गुप्त के प्रबल पुरुषार्थ के कारण विफल होता है। स्कन्दगुप्त उसके जघन्य कर्म के प्रतिकार स्वरूप प्राणदण्ड की आज्ञा न देकर उसे क्षमा दान देता है। शर्वनाग का हृदय इस उदारतापूर्ण देवोपम व्यवहार को देखकर पलट जाता है। वह आत्मग्लानि और पश्चाताप के आँसुओं से अपना कलुषित हृदय धोने लगता है— "सम्राट् ! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, ऐसे नीच के लिए और कोई दण्ड नहीं है ... ...जितनी यन्त्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा ... ... दुहाई सम्राट् की ! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचार किया था। ओह !" इस प्रकार आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति द्वारा वह अपने कुकर्मों की कालिख अपने चरित्र पर से धोता है। ग्लानि की

अनुभूति आत्म सुधार का प्रथम सोपान है। शर्वनाग अपने दुराचारों को स्पष्टतया सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त कर दिव्याचरण द्वारा आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होता है।

सुबह का भूला यदि संध्या को घर आजाय तो वह भूला नहीं कहलाता। शर्वनाग जीवन की एक भूल को पहचान कर जबसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है तबसे फिर वह विपथगामी नहीं होता। स्कंद की न्याय सभा में देवकी और स्कन्दगुप्त की अनुपम उदारता और क्षमाशीलता से प्रभावित होकर वह प्रतिज्ञा करता है--"आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि मैं देवचरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूं।" शर्वनाग उसका यथावत् पालन भी करता है। अन्तर्वेद का विषयपति होकर वह साम्राज्य की सच्ची सेवा में तत्पर है। उत्कोच द्वारा देश में साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कराने वाले हूणों के षड्यन्त्र का वह भण्डा फोड़ता है। वह विजया के साथ देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवकों को देश सेवा के लिए तत्पर करने में सन्नद्ध होता है। अन्त में वह अपने 'गुदड़ी के लालों का' जिन पर वह विश्व भर का भाण्डार लुटाने को प्रस्तुत था लुटेरे हूणों को लुटा देता है। देश सेवा के लिए आत्मजों का बलिदान आत्मबलि से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

शर्वनाग का चरित्र विशेष घटनापूर्ण नहीं है। उसका व्यक्तित्व सामान्य कोटि का है तथा चरित्र विकास भी परिमाण में स्वल्प है। उसके सरल जीवन में कुमार्ग और सन्मार्ग के बीच जो लौटा फेरी है वह विषय महत्वपूर्ण है और इस दृष्टि से उसका चरित्र चित्रण परम स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक पद्धति पर है।

बन्धुवर्मा

'वसुन्धरा का श्रृंगार, वीरता का वरणीय बंधु, मालवमुकुट' आर्य बन्धुवर्मा, साहसी, शूर और परम देश-भक्त नरेश है। विपत्ति में धैर्य, युद्ध में उत्साह और वैभव तथा उत्कर्ष में विनम्रता —ये महान् गुण उसके व्यक्तित्व को गौरवान्वित करते हैं गुप्त साम्राज्य से सन्धि के नियमानुसार बन्धुवर्मा गुप्त सम्राट के पास सहायतार्थ दूत भेजता है, किन्तु वह वीर दूसरों पर ही अवलम्बित रहने वाला नहीं है। आक्रमणकारियों से दुर्ग के घिर जाने पर वह धैर्य नहीं खोता वरन् वह अन्तिम श्वासों तक शत्रु से मोर्चा लेने के लिए प्रस्तुत होता है, और डटकर युद्ध करता है।

बन्धुवर्मा रणकुशल और पराक्रमी है। गान्धार-घाटी के रणक्षेत्र में उसके नेतृत्व में असीम साहसी आर्य सैनिकों ने अपूर्व सफलता प्राप्त की। उसने स्कन्द से 'नदी की तीक्ष्णधारा को लाल कर बहा देने' की जो प्रतिज्ञा की, अपने प्राणों की आहुति देकर, उसे पूरा किया। बन्धुवर्मा कूटनीति और स्वार्थबुद्धि से सर्वथा परे है। और इसी कारण उक्त रणक्षेत्र में वह ऐसा स्थान ग्रहण करता है जो सबसे अधिक संकटापन्न है। स्कन्द उसे स्वयं वहाँ पर नहीं रखना चाहता। किन्तु यह बन्धुवर्मा का ही साहस एवं कर्तव्य-भावना है कि वह संकट के समुद्र में सीधे फाँद पड़ता है। वह उक्त स्थल पर दृढ़ता के साथ अन्त तक डटा रहता है तथा अपने अतुलनीय शौर्य और पराक्रम से अपने जीवन का बलिदान देकर शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त करता है।

बन्धुवर्मा में क्षत्रियोचित साहस और शौर्य के अतिरिक्त आदर्श और कर्तव्य के लिए त्याग भाव एवं शील-सौजन्य पूर्ण रूप से है।

स्कन्दगुप्त की सहायता द्वारा विदेशियों के आक्रमण से मालव की रक्षा हो जाने के बाद वह कृतज्ञता प्रेरित हो इस वीर परोपकारी के लिए 'अपना 'सर्वस्व अर्पित' करने की प्रतिज्ञा करता है और उसे पूर्णतया चरितार्थ करता है। बन्धुवर्मा के पास उसका सर्वस्व, मालव का राज्य और अपना जीवन—ये दो ही वस्तुए हैं। राज्य पर उसका अधिकार उसके आत्मीय जनों के साथ है। अतः स्कन्द को राज्य समर्पण करने का विचार वह अपने स्त्री, भाई, बहिन आदि के सामने रखता है। उसकी रानी जयमाला के अतिरिक्त उसका उक्त प्रस्ताव सबको स्वीकृत है। जयमाला को असहमत देख वह बल प्रयोग या हठधर्मी से उसका उल्लंघन नहीं करता वरन उसी को मालव का राज्य सौंप देता है। वह स्वयं आर्य-साम्राज्य सेना का एक साधारण 'पदातिक सैनिक' जीवन व्यतीत करने का निश्चय करता है। जयमाला भी अपने पति के त्याग पूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने दुराग्रह के लिए उससे क्षमा मांगती है तथा उसके प्रस्ताव का समर्थन करती है। मालव में स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक के समय गोविन्दगुप्त बन्धुवर्मा की उचित प्रशंसा करते हैं—'इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं।'

बन्धुवर्मा का शील-सौजन्य उसके साहस, पराक्रम और त्याग से कम प्रशसनीय नहीं है। वैभव और उत्कर्ष काल में विनय और शील महापुरुषों का भूषण है। मालवदुर्ग के अवरोध काल में जब श्रेष्ठि-कन्या विजया उसके शरणागत हो प्राण रक्षा के लिए आकुल है तब जयमाला उस पर व्यंग्य करती है 'स्वर्णरत्न की चमक देखने वाली आँख बिजली सी तलवारों के तेज को कब तक सह सकती हैं।' बन्धुवर्मा को यह व्यंग्य अनुपयुक्त और शील विरुद्ध प्रतीत होता है। वह अत्यन्त सहिष्णुता के साथ अपनी स्त्री को समझाता है—'प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्य्यादा रखनी चाहिए।'

मालव की सभा में गोविन्दगुप्त जब वृद्धावस्था के कारण महा-

बलाधिकृत का पद ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट करता है तथा उक्त पद पर बन्धुवर्मा को ही अधिष्ठित करने का आग्रह करता है तब वह अत्यन्त विनम्रता के साथ अपने शील तथा गुरुजनों के प्रति आदर भाव का सुन्दर परिचय देता है—'अभी नहीं आर्य! आपके चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव के राज कुटुम्ब का एक-एक बच्चा, आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे वही होगा।' उसका त्याग निस्वार्थ है। बन्धुवर्मा ने साम्राज्य के लिए अपना राज्य और प्राण तक अर्पित किया। उसमें उसका कोई स्वार्थ या महत्त्वकांक्षा नहीं है। स्कन्दगुप्त स्वयं इस बात को उसके न रहने पर भी आजीवन स्मरण करता है—'जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊंगा।' बन्धुवर्मा का चरित्र पराक्रम, शील, स्वदेशप्रेम, कर्त्तव्यतत्परता आदि की दृष्टि से स्कन्दगुप्त के चरित्र की टक्कर का है। नाटककार ने नाटक के बीच में ही उसकी मृत्यु दिखाकर उसके चरित्र को नायक के चरित्र से अधिक प्रभावपूर्ण नहीं होने दिया।

——※——

मातृगुप्त

मातृगुप्त प्रतिभावान्, सहृदय एवं भावुक राष्ट्रीय कवि है। काव्य-साधना को ही अपना उपजीव्य बनाकर वह जीवन में प्रवेश करता है। उसमें उसे यथेष्ट अर्थ-लाभ न होने से वह अपने मित्र धातुसेन की प्रेरणा एवं मुद्गल के सहयोग से राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करता है।

मातृगुप्त में कार्य-शक्ति और साहस यथेष्ट परिमाण में है। वह राज्यचक्र में किसी महत्त्वाकांक्षावश नहीं आता। धातुसेन उसे भारतीय राजनीति का क्रान्तिपूर्ण वातावरण पहिले ही बता देता है—"निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है ......' अतः देश-दशा से पूर्णतया परिचित, तथा उसकी सेवा की पवित्र भावना से उद्बुद्ध मातृगुप्त विशुद्ध साहित्य-सेवी से देशसेवक हो जाता है। वह मालव में भटार्क को बन्दी बनाने में गोविन्दगुप्त को सहयोग देता है तथा प्रपंचबुद्धि से देवसेना को बचाने में वह ऐसी तत्परता और कौशल दिखाता है कि स्कन्दगुप्त प्रसन्न होकर उसे काश्मीर का शासक नियुक्त करता है।

मातृगुप्त देश की दुरवस्था पर बैठकर, केवल आँसू बहाने वाला नहीं है। निराशा केवल थोड़ी देर के लिए ही उसका हृदय झाँक कर चली जाती है। गान्धार युद्ध के पश्चात देश को संगठित करने के लिए उसने 'उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए। परन्तु पाँसा पलट कर न पलटा' फिर तो विजया से जरा सी प्रेरणा मिलते ही 'वह गली गली, कोने, कोने पर्य्यटन करने और पैर पकड़कर लोगों को मनाने' के लिए कटिबद्ध होकर कर्म्मक्षेत्र में कूद पड़ता है। मातृगुप्त की वाणी में देश

की पुकार, अवस्था का वास्तविक दिग्दर्शन और मृतप्राय हृदयों में भी नवजीवन का उत्साह फूक देने वाली सञ्जीवनी शक्ति है। आर्य वीर उसकी सङ्गीत लहरी से प्रोत्साहित हो भीषण-सङ्ग्राम में शत्रु को पराजित करते हैं। मातृगुप्त सच्चा राष्ट्रकवि है। अपनी लेखनी और तलवार दोनों ही से राष्ट्र-सेवा करना उसके जीवन का परम कर्तव्य है।

प्रकृति प्रेम मातृगुप्त के रोम रोम में व्याप्त है। उसकी कोमल कल्पना के प्राङ्गण में मूक प्रकृति मुखर हो उठती है। काश्मीर के हिमाच्छादित हिम-शृंग और अमृत-सरोवर उसके कण्ठ में बैठकर सरस्वती को रुलाते और हंसाते हैं। धातुसेन के शब्दों में उसकी "कोमल कल्पना, वाणी की वीणा में झङ्कार उत्पन्न करती हैं।"

काव्य-साधना वह केवल उदर-पूर्ति के लिए नहीं करता है वरन् उसमें उसकी सच्ची निष्ठा है। काव्य उसके भूखे हृदय का आहार है। इसके लिए वह दरिद्रता का कठोर व्यंग्यात्मक अट्टहास सुनता है, किन्तु वह सरस्वती की उपासना-मन्दिर का द्वार नहीं छोड़ता। वह जीवन-मृत्यु के संघर्ष में उसी के द्वारा अमरपथ का पथिक बनता है। उसकी काव्य-प्रतिभा समादृत है, और समष्टि के लिए श्रेयस्कर है।

मातृगुप्त का प्रणय भावुकता प्रधान है। गणिका से प्रेम करके भी वह आलम्बन के संयोग और वियोग की यथार्थ अनुभूति करता है। आलम्बन बाजारू होने पर भी उसका प्रणय बाजारू नहीं है। मालिनी काश्मीर की सुप्रसिद्ध वार-विलासिनी है। मातृगुप्त उसको अपने हृदय की 'आराध्य देवता' बनाकर उसकी मानसपूजा करता है। उसका संयोग उसके भिखारी संसार पर स्वर्ण की वर्षा करता है, वह उसके परिरम्भ मुकुल में बन्दी अलि सा काँपता है। उसके प्रेम का प्याला छलक कर अपनी लहरियों से उसके सुख को माँपने लगता है। मातृगुप्त के काश्मीर छोड़ देने पर मालिनी तो उसे भूलकर 'सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम' बेच डालती है, किन्तु मातृगुप्त उसकी स्मृति को कङ्गाल की निधि

की भांति अपनी हृदय-मन्जूषा मे सुरक्षित रखता है। मालिनी अपने पतिताचरणों के कारण भौतिक अर्थ मे तो मातृगुप्त की प्रणयिनी नहीं रहती, किन्तु मातृगुप्त का मानस सम्बन्ध उससे चिरस्थायी रहता है। वह अत्यन्त करुणा-कलित हृदय से मालिनी को विदा करते हुए कहता है—"मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी! कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊं। पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुआं उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुंधली होकर सामने आवेगी।"

विस्तार की दृष्टि से मातृगुप्त का चरित्र चाहे महत्वपूर्ण न हो किन्तु सरस काव्यमय अनूठी उक्तियाँ नाटक मे यत्र तत्र उसके मुख मे सुनकर हम उसके सरल एवं भावुक व्यक्तित्व को सहसा भुला नहीं सकते। मातृगुप्त के चरित्र में नाटककार का कवि-हृदय स्पष्ट रूप से झांक रहा है। यही उसका महत्व और उसकी विशेषता है।

—(०)—

धातुसेन

सिंहल का राजकुमार धातुसेन, उपनाम कुमारदास, विनोदी, विवेकयुक्त एवं वाक्पटु है। वह विदेशी होते हुए भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। वह भारत भ्रमण के लिए तथा अपने पूर्व परिचित मित्र प्रख्यातकीर्ति से मिलने के लिए भारत आता है, किन्तु यहाँ की क्रान्तिपूर्ण राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अनुशीलन कर वह भारतीय गौरव तथा संस्कृति की रक्षा के लिए सक्रिय योग प्रदान करता है।

धातुसेन की विनोद पूर्ण वाक्पटुता का परिचय नाटक के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में ही मिल जाता है। वह हास्य–मिश्रित व्यग्यो-क्तियों से सम्राट कुमारगुप्त को निरुत्तर–सा कर देता है। समस्त राज-सभा उसकी वाग्मिकता से प्रभावित हो जाती है, और उसे निरन्तर आदर पूर्वक स्मरण करती है।

धातुसेन की विनोदशीलता केवल बाह्य है। वस्तुत: वह गम्भीर विचारशील है और परिस्थितियों का विश्लेषण कर निष्कर्ष पर पहुँचने की उसमें अपूर्व क्षमता है। वह नाटक का प्रथम पात्र है जो कुमारगुप्त कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन कर यह घोषणा करता है—"विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट, तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कन्द' है।"

धातुसेन कोरा विचारक ही नहीं है, वरन् वह अपने आदर्शों के अनुरूप कठोर कर्मक्षेत्र में अवतरित हो कार्य्य करने वाला भी है। वह स्कन्द के साथ बन्दीगृह में देवकी के उद्धार के लिए जाता है। देश म

ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच फैले हुए साम्प्रदायिक विद्वेष को दूर करने की वह सफल चेष्टा करता है। उसके गम्भीर धर्मज्ञान एवं पाण्डित्य-पूर्ण तर्कों से प्रभावित होकर ब्राह्मण और बौद्ध अपना पारस्परिक द्वेष भूल जाते हैं। आततायी हूणों के षड्यन्त्रों को तोड़कर उन्हें विफल मनोरथ करने में वह महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। धातुसेन अपने साहस और पराक्रम से अनन्तदेवी, हूण सेनापति आदि को बन्दी बनाकर न केवल प्रख्यातकीर्ति के जीवन की ही रक्षा करता है, वरन् विदेशियों और राष्ट्रद्रोहियों के महान् विनाशकारी षडयन्त्र से देश को बचाता है।

आर्यराष्ट्र और भारतभूमि के प्रति उसकी कार्यतत्परता निःस्वार्थ है। देश पर विदेशियों के आक्रमण तथा अन्तर्विद्रोह से उत्पन्न परिस्थितियों में, उच्च पद की अभिलाषा से, न तो वह भटार्क की भाँति षड्यन्त्र रच कर विदेशियों को आमन्त्रित करता है और न वह अर्थलिप्सा से शर्वनाग की भाँति राजपुरुषों की हत्या आदि में सहयोग देने की कल्पना करता है। वह भारत की विश्वबन्धुत्व की भावना, भारतीय ज्ञानगरिमा, भारतीय संस्कृति एवं भारत के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों से अत्यन्त प्रभावित है। वह इसी की प्रेरणा से ही प्रख्यातकीर्ति से कहता है— "भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।" भारत के प्रति उसका निःस्वार्थ आत्मसमर्पण भाव उस के हृदय की सात्विक मनोवृत्तियों का परिचायक है।

धातुसेन स्वयं गुणज्ञ और गुणग्राहक है। मातृगुप्त की कल्पनाशील भावुकता और देवकी की देवोपम उदारता का यथार्थ अनुभव कर वह उनकी मुक्तकण्ठ से सराहना करता है। गुणवान् मनुष्य ही गुणों की सच्ची पहिचान कर सकते हैं। धातुसेन की गुणग्राहकता उसके स्वयं गुणी होने की द्योतक है।

मुद्गल

मुद्गल नाटक का कल्पित पात्र है। नाटक में उसका प्रयोग हास्य विधान, अनभिनीत घटनाओं की सूचना और यत्रतत्र राजकीय समाचारों के आदान-प्रदान के योग से हुआ है। उसके चरित्र में किसी विशिष्ठ आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है।

मुद्गल महादेवी देवकी का संदेश वाहक है प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में वह कुमारगुप्त से महादेवी का यह अनुरोध प्रकट करने आता है कि वे युवराज भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए भगवान चक्रपाणि की पूजा में सम्मिलित होने आवें। आगे चलकर मुद्गल महादेवी का संदेश लेकर युवराज को खोजता हुआ कुसुमपुर से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान की यात्रा करता है। निश्चय ही वह महादेवी का विश्वास पात्र और उनका शुभचिन्तक सेवक है। महादेवी की भटार्क आदि के षडयन्त्र से रक्षा करने के उपायों की चिन्तना में व्यस्त धातुसेन को मुद्गल ही यह सुझाता है—

'महादेवी तो क्षत्राणी है, संभवत: उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।"

मुद्गल हास्य--प्रधान पात्र है। वह अपनी विनोदपूर्ण मुखरता से गम्भीर राजकीय वातावरण को हास्यमय कर देता है। कुमार गुप्त का दर्बार उसकी उक्तियों से अपनी सहज गम्भीरता का परित्याग कर हंसने लगता है। देवसेना अपनी दार्शनिक गम्भीरता को थोड़ी देर के लिए भुलाकर मुद्गल के हास्यपूर्ण कथनों से अपना मनोरंजन करने लगती है। सुकवि मातृगुप्त भी मुद्गल की विनोद--पूर्ण प्रकृति का आनन्द लेने के लिए उससे जान बूझ कर छेड़छाड़ करता है। पेटूपन हास्य का सहज आलम्बन है। मुद्गल में इसका आतिशय्य है। नाटक में वह

अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए प्रवेश करता है—"रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा, परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता, इसके भीतर कुछ रख कर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ।" सुस्वादु भोजन के निमन्त्रण का नाम सुनते ही अपनी स्त्री पर मुद्गल का सारा कृत्रिम क्रोध काफूर हो जाता है। देवसेना के यह कहते ही कि 'अच्छा, आज तुम्हारा निमन्त्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ, मुद्गल अपनी स्त्री के प्रति अपनी सारी खीझ, जो देवसेना के उक्त कथन पूर्व उसी के समक्ष व्यक्त कर चुका था, भुला देता है, और निमन्त्रण का नाम सुनते ही चट से कहता है 'पुण्यकाल बीत न जाय.. ..चलिए, मैं उसे बुला लेता हूँ।'

मुद्गल का हास्य अशिष्ट अथवा भोंडा नहीं है। वह जिस प्रकार के समाज में विचरण करता है उसके अनुकूल ही उसकी विनोद वार्ता है। उसका हास्य मर्यादित और परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण सर्वसाधारण के अनुरंजन की वस्तु है। मुद्गल अपनी इस विनोदी प्रकृति के कारण ही नाटक का सर्वप्रिय (Popular) पात्र है।
मुद्गल के स्वभाव मे विनोद के अतिरिक्त सहानुभूति का भाव भी पर्याप्त रूप में है। मातृगुप्त की अकिञ्चन दशा से प्रभावित होकर वह उसे युवराज भट्टारक के पास रखवा देने का वचन देता है, और उसे पूरा भी करता है। हूणों के हाथों से निरीह नागरिकों को यातना पाते देख कर उसका हृदय सहानभूति से कातर हो उठता है। वह आगे बढ़ कर उनकी रक्षा के उपाय में मातृगुप्त को समुचित योग देता है। अन्त में वह विजया के विरोधी आचरणों को जानते हुए भी उसकी आश्रय-हीनता देख कर सहानभूति से द्रवित हो जाता है, और विजया के पूछने पर वह उसे स्कन्दगुप्त का पता भी बता देता है। मुद्गल ने औरों से जो सहानुभूति अपने लिए मुक्त हस्त प्राप्त की उसे वह दूसरों को देने में भी स्वयं कभी

सकोची नहीं है ।

नाटककार ने मुद्गल के द्वारा अन्तिम अङ्क के प्रथम दृश्य में अनेक नाटकीय घटनाओं एवं व्यापारों का परिचय कराया है। उन घटनाओं का प्रदर्शन वस्तु विस्तार एवं व्यापार जटिलता की दृष्टि से नाटककार को अभिप्रेत नही है। नाटकीय योजना की दृष्टि से पात्रों का इस प्रकार का प्रयोग अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। नाटकीय वस्तु और व्यापार की दृष्टि से मुद्गल का चरित्र चाहे महत्त्वपूर्ण न हो किन्तु उसकी विनोदी प्रकृति निरन्तर स्मरणीय है। नाटककार को इसमे यथेष्ट सफलता मिली है ।

जयमाला

मालव नरेश बन्धुवर्मा की महिषी जयमाला अपने पति के ही समान शूर और साहसी है। जिस समय मालव दुर्ग आक्रमणकारियों से घिर जाता है और स्कन्दगुप्त की सहायता आने में विलम्ब होती है, उस समय बन्धुवर्मा अत्यन्त चिन्तित और व्याकुल भाव से अपनी संकटापन्न परिस्थिति का परिचय देते हुए जयमाला से कहते हैं—'प्रिये! अभी तक युवराज का कोई सन्देश नहीं मिला। सम्भवत शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।' जयमाला सामान्य स्त्री की भांति इससे अधीर और व्याकुल न होकर अत्यन्त साहसपूर्ण शब्दों में कहती है—'नाथ तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस था? जाओ! प्रभु! सेना लेकर सिंह विक्रम से शत्रु-सेना पर टूट पड़ो! दुर्ग रक्षा का भार मैं लेती हूं ?' जयमाला के लिए तो युद्ध भी एक गान ही है, और एक वीर क्षत्राणी के समान चिर-संगिनी खड्गलता से उसका 'चिर स्नेह है'। अन्तःपुर का द्वार टूटने और 'विजयी शत्रु-सेनापति के प्रवेश' करने पर वह भी तलवार लेकर शत्रुओं से युद्ध करती है।

जयमाला वीर है पर उसमें स्त्रियोचित कुछ दुर्बलताएं हैं। वह अपनी ननद देवसेना की तरह 'सर्वात्मा के स्वर में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का लय' करने में स्वभाव से ही तत्पर नहीं है। वह मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को समर्पित करने वाले बन्धुवर्मा के प्रस्ताव का विरोध करती है—'आर्य्य पुत्र! अपने पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरे के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय कांपता नहीं है? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते

हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा।" स्वार्थपूर्ण ममत्व नारी स्वभाव की सामान्य दुर्बलता है। इसके अपवाद बहुत थोड़े हैं। *जयमाला भी इसी भाव की प्रेरणा से समष्टि के लिए व्यष्टि की सम्पूर्ण* अवहेलना करने को प्रस्तुत नहीं है। साथ ही यदि वह इतनी ऊँची नहीं है कि दृढ़ आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को 'विस्मृत' कर सके, तो वह इतनी दुराग्रही और नीच भी नहीं है कि वह अपने पति तथा अन्य आत्मीयजनों की उपेक्षा करे अथवा अनन्तदेवी की भाँति उन्हीं के विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर उनका नाश करने की सोचे! जयमाला पति के अटल निश्चय के सामने सिर झुकाकर क्षमा माँगती है और उसे स्वीकार करती है। उसकी यह स्वीकृति कृत्रिम या दबाव से नहीं वरन् हृदय की सच्ची प्रेरणा से है। स्कन्दगुप्त को मालव का सिंहासन समर्पित करती हुई वह कहती है—'देव! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं।

नाटकों में सभी पात्रों को आदर्श के साँचों में ढालना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। जब कोई अपनी दुर्बलताओं का दमन कर ऊपर उठता है तभी उसके चरित्र का गौरव प्रस्फुटित होता है। जयमाला के चरित्र का यह महान् गौरव है, कि वह अपनी स्वभावज दुर्बलता को दबाकर अपने पति की अनुगामिनी होती है। उसकी पतिभक्ति का चरम रूप तो हमें उसके पति के साथ सती हो जाने में दिखाई पड़ता है। उसने यथार्थ ही भारतीय क्षत्रिय नारी-जीवन की गौरवपूर्ण झाँकी अपने आचरणों एवं चरित्र द्वारा प्रस्तुत की है।

अनन्त देवी

अनन्त देवी सम्राट कुमारगुप्त की द्वितीया युवती महिषी है। उसमें स्वभाव ही से महात्त्वाकांक्षा है। वह ज्येष्ठ किन्तु सपत्नी पुत्र स्कन्दगुप्त के स्थान पर लोक-मर्य्यादा के एवं राजनियम विरुद्ध, अपने कनिष्ठ पुत्र पुरगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाना चाहती है। वह अबला होकर अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलने का साहस रखती है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग वह अपने साहस और प्रयासबल से प्राप्त करना चाहती है। वह जानती है कि महत्वाकांक्षा की प्राप्ति के लिए असीम साहस और शक्ति होना चाहिए। अनन्तदेवी कहती है—'जो चूहे के शब्द से शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है।' अतः अनन्तदेवी में अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए साहस, कठोरता, कौशल एवं कुटिलता सभी कूट कूट कर भरी हुई है। वह 'विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट को' विलासमय जीवन की जटिल गुत्थियों को सुरा द्वारा सुलझाने में व्यस्त कर अपने लिए कार्यक्षेत्र एवं अनुकूल वातावरण बना लेती है। अनन्त देवी भटार्क को महाबलाधिकृत बनाकर उसे चिरकाल के लिए कृतज्ञता के पाश में बाँध लेती है। भटार्क उसके कार्य साधन का उपयुक्त अस्त्र बन जाता है। क्रूराकृति एवं क्रूरकर्म्मा प्रपंचबुद्धि को भी वह अपनी ओर मिलाती है। भटार्क एवं प्रपंचबुद्धि के सहयोग से अनन्तदेवी मगध में 'पारसीक मदिरा की धारा की जगह 'रक्त की धारा' बहाती है। वह गुप्त साम्राज्य में 'खंड प्रलय' प्रस्तुत कर देती है। कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण एवं रहस्यमय मृत्यु में अनन्तदेवी का हाथ है। महादेवी देवकी की हत्या के आयोजन में उसका प्रत्यक्ष प्रोत्साहन एवं सक्रिय चेष्टा है।

उसने साम्राज्य एव आर्य्य जाति को सुरक्षा एवं शान्ति की भी परवाह न कर हूणों से उत्कोच लेकर उनके साथ षड्यन्त्र किया। नगरहार के युद्ध में स्कन्दगुप्त की पराजय अनन्तदेवी की कुमन्त्रणा का कुपरिणाम है।

अनन्तदेवी लक्ष्य-भ्रष्ट एवं मर्यादा-विहीन होने के कारण अपने उद्देश्यों में पूर्णतया सफल नहीं होती। वह कुसुमपुर एवं मगध का सिंहासन प्राप्त तो अवश्य करती, किन्तु उसकी यह सफलता क्षणिक एवं सारहीन है। उसकी विफलता का कारण उसके पुत्र पुरगुप्त का निकम्मापन और उसके विश्वस्त सहयोगी भटार्क की विचार--अस्थिरता है। पुरगुप्त के निकम्मेपन और निर्वीर्यता के लिए अनन्तदेवी एक बार उस से खीज कर उसकी कठोर भर्त्सना भी करती है—"निर्वीर्य' निरीह बालक तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता ? लज्जा के गर्त में डूब ही जाते।' भटार्क अनन्तदेवी के प्रभाव से पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाने के लिए प्रतिश्रुत होकर भी स्कन्द के उपकारों के दुर्वह बोझ से डाँवाडोल होता रहता है। पुरगुप्त की दुर्बलता और भटार्क की अस्थिरता के कारण अनन्तदेवी की सफलता का अस्थायी होना परम स्वाभाविक है।

अनन्तदेवी में अवसर के अनुकूल नरम--गरम बातचीत कर दूसरों पर अपना प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता है। भटार्क के समक्ष वह 'शत्रुपुरी में असहाय और अबला, बनकर उसकी सहायता प्राप्त करती है। देवकी के समक्ष वह सिंहनी के समान गरजकर उसे भयभीत करने का प्रयास करती है। वह देवकी से कहती है—'परन्तु व्यंग्य की ज्वाला रक्त से भी नहीं बुझती देवकी! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ। वही अनन्तदेवी जब स्कन्द के समक्ष बन्दिनी होकर विचारार्थ आती है तब वह अत्यन्त विनम्र होकर पारिवारिक सम्बन्धों की दुहाई देती है और स्कन्द की सहानुभूति प्राप्त करती है। महादेवी देवकी की हत्या में विफल होने पर वह स्कन्दगुप्त से 'तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ, कहकर अपना बचाव करती है। विजया प्रणय-वञ्चना से पीड़ित हो अनन्तदेवी

की भर्त्सना करने का दुःसाहस करती है। 'यह साम्राज्य का स्वप्न' गला दबाकर भंग कर देने की धमकी देती है। किन्तु अनन्तदेवी के उग्र प्रतिवाद के समक्ष उसे भी मुंह की खानी पड़ती है। निस्सन्देह अनन्तदेवी अपने समय की बड़ी कुटिल, भयानक और विलक्षण बुद्धि सम्पन्न नारी रही होगी। भटार्क ने उसके सम्बन्ध जो यह कहा— दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है वह निस्सार नहीं है।

अनन्तदेवी जिस प्रकार कुटिल एवं महत्वाकांक्षापूर्ण है, उसी प्रकार वह विषय-लोलुप एवं विलासिनी भी है। वह प्रथम परिचय में ही भटार्क को अपने प्रेम पाश में बाँधना चाहती है। इस बात का अनुभव करके ही भटार्क कहता है— 'इसकी आँखों में काम पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है।" अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरगुप्त के समक्ष भी निर्लज्जता पूर्वक मदिरापान एवं भटार्क के साथ कामुक चेष्टाएं करती है। राजमहिषी होकर इस प्रकार की चारित्रिक भ्रष्टता में अपने को मग्न कर देना अनन्तदेवी की महान दुर्बलता है।

अनन्तदेवी का चरित्र आदर्श से बहुत गिरा हुआ है। वह स्वार्थ से प्रेरित हो पति की हत्या, पुत्र से विरोध, सपत्नी की वध चेष्टा और साम्राज्य के विरुद्ध विदेशियों को सहायता प्रदान करती है। उसके नीच कर्मों का फल भी उसे कार्यों के अनुकूल ही मिलता है। 'मगध में महादेवी और परम भट्टारक का अभिनय' होता है किन्तु वह निस्सार और क्षणिक है। यथार्थ ही उसने अपने 'कुत्सित कर्मों की राख से कुमारगुप्त के अग्नि तेज को ढक दिया।' 'प्रसाद' ने उसका अन्त नाटक के अन्तर्गत नहीं किया क्योंकि वह इतिहास विरुद्ध होता, अन्यथा आदर्श रक्षा हेतु ऐसे पात्रों का अन्त समीचीन है।

देवसेना

मालव कुमारी देवसेना का पावन चरित्र 'प्रसाद' जी की अमर कल्पना का प्रसाद है। उसके चरित्र में नारी जीवन को आदर्श सहिष्णुता, त्याग, उदारता, समरसता, भावुकता, गम्भीरता आदि इस भाँति प्रतिष्ठित है कि वह काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक प्रतीत होता है। वह 'भाव विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई कुरंगी सी कुमारी' जीवन के संघर्ष में अपनी सहज उदारता, साहस एवं सहानुभूति से अपने युग पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डाल देती है।

देवसेना के चरित्र में उसकी संगीत-प्रियता और पावन प्रेमव्यंजना ये-दो विशिष्ट गुण हैं। उसकी संगीत प्रियता जन्म-जात है। वह जीवन की विषम घड़ियों को संगीत की लहरों पर तैराकर बहा देती है। मालव दुर्ग पर हूणों एवं शकों की सम्मिलित वाहिनी के आक्रमण काल में अपनी भाभी से देवसेना कहती है—'एक बार गा लूँ हमारा प्रियगान, फिर गाने को मिले या नहीं।' देवसेना का कोई कार्य बिना गान के नहीं होता। उसमें संगीत प्रियता का आतिशय्य देखकर भीमवर्मा कह बैठता है—'देवसेना तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।' औरों के लिए, अर्थात् विजया और भीम वर्मा सदृश स्थूल एवं बाह्यदृष्टि से संगीत देखने वालों के लिए, गाना चाहे एक रोग हो, किन्तु देवसेना संगीत को ब्रह्म की सत्ता के समान अणु परमाणु में, उद्भिज एवं अण्डज में, सर्वत्र ही परिव्याप्त देखती है। वह विजया से कहती है—'मैं प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलाने में एक लय है।..

पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह' 'कलकल' 'छलछल' में, काकली

में रागिनी है।' यहाँ पर देवसेना सामान्य अनुभूति के स्तर से बहुत ऊँचे उठकर रहस्यात्मक अनुभूति के क्षेत्र मे पहुँच जाती है इसीलिए उसकी भावाभिव्यक्ति सकेतपूर्ण एवं गंभीरतम हो जाती है। पारिजात वृक्ष का परिचय देने में देवसेना, विजया के समक्ष, अपना ही जीवन अप्रस्तुत रूपसे व्यक्त करती है। यहाँ पर उसका चरित्र मानव पहुंच के बाहर बहुत ऊँचा उठा प्रतीत होता है। देवसेना संगीत की प्रभविष्णुता और उसका मनोहर स्वरूप विश्व-प्रकृति म जिस प्रकार सर्वत्र देखती है वैसे ही मानव प्रकृति में भी उसका मंगलमय रूप उसके सामने है। वह जयमाला से कहती है 'प्रवात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है।'

देवसेना का संगीत प्रेम-करुण भावावेष्टित है। जयमाला कहती है 'जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागनी रोती है।' देवसेना स्वय अपनी सखी से कहती है—'जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ।' जिस प्रणय-उपासना के लिए वह वागीश्वरी की तान का अभ्यास कर चुकी थी उसके दुष्प्राप्य हो जाने पर उसके संगीत का स्वर वेदनायुक्त हो जाता है। प्रियतम के अभाव में भी संगीत के प्रति उसका आकर्षण अक्षुण्ण रहता है। देवसेना की एक स्वगतोक्ति से यही भाव व्यंजित होता है—'मेरे प्रिय गान! अब क्यों गाऊँ और क्यों सुनाऊँ? इस बार बार के गाए हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है? केवल सुनने की ही नहीं प्रत्युत जिसके साथ अनन्तकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।'

देवसेना के जीवन में उसकी प्रणय-कहानी बड़ी मर्मस्पर्शी है। वह अपने जीवन के वसंत काल में जिस स्कंद की मन्मथ मूर्ति मानस में प्रतिष्ठित करती है वही उसके दुर्भाग्य से विजया की ओर भ्रमवश आकर्षित

हो जाता है। देवसेना मालव की राजसभा में विजया के प्रति कहे गए स्कन्दगुप्त के इस कथन का—'विजया यह तुमने क्या किया' मर्म पूर्णतया अवगत कर लेती है। वह सामान्य नारी की भाँति द्वेष और ईर्षा से प्रेरित नहीं होती। वह अपने हृदय के आराध्य की मनोकामना के मार्ग में रोड़ा बनकर नहीं आती। देवसेना असाधारण गम्भीरता और सहिष्णुता से अपने नारी हृदय की सहज दुर्बलताओं को अपने पैरों के नीचे दबाकर मानव जीवन के अति उच्च स्तर पर स्थित होती है। यही तो उसके चरित्र की महानता है। वह अपने हृदय की सहज दुर्बलताओं को अपनी सखी के समक्ष व्यक्त कर प्रेम के नाम पर केवल एक बार ही रोती है। देवसेना अपनी सखी से कहती—' मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय कलह उत्पन्न करती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हाल कर स्वस्थ होकर बैठती हूँ।'' देवसेना के हृदय में प्रणय की प्रबलता का अनुभव उसी के शब्दों से हम कर सकते हैं—"कूलों में उफन कर बहने वाली नदी, तुमुल तरङ्ग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा।" नारी हृदय की प्रणय सम्बन्धी सामान्य अनुभूतियों के इस कथन में ही हम उसका मानवीय रूप पहिचान कर उसे ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा वह अलौकिक गुणशील समन्वित होने से सर्वसाधारण की प्रतीति के परे हो जाती।

देवसेना अपने प्रणय-भाव में गंभीर होते हुए भी जीवन से उदासीन अथवा तटस्थ भी नहीं होती। वह अपनी प्रणय-प्रतिद्वन्द्विनी विजया के प्रति कोई दुर्विचार अथवा दुर्व्यवहार नहीं करती। विजया के मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े नहीं बिछाती। देवसेना के भाई बन्धुवर्म्मा ने स्कन्दगुप्त को मालव का राज्य समर्पित किया। देवसेना अपनी दूरदर्शिता से यह अनुभव कर लेती है 'लोग कहेंगे कि मालव

देकर देवसेना का ब्याह किया जारहा है ।" विजया को देवसेना के प्रति यही भ्रम होता भी है कि 'उपकारों की ओट से उसके स्वर्ग को छिपा दिया गया।' देवसेना, विजया के इस भ्रम को निर्मूल करने की प्राण-पण से चेष्टा करती है। वह प्रपंचबुद्धि से कहती है—'परन्तु कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है । वह पूर्ण नहीं हुई है । मैं डरती नहीं हूं, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है । विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता...... ।"

स्कन्द के प्रति देवसेना का प्रेम वासनायुक्त नहीं है । अवसर एवं अधिकार प्राप्त करके भी वह विषय-वासनायुक्त प्रेम के स्थूल स्वरूप को अस्वीकार कर देती है। इसी में उसके दिव्य प्रेम-भाव की अलौकिकता है। स्कन्दगुप्त स्वयं देवसेना को अपना सर्वस्व अर्पित कर उसके साथ एकान्तवास की कामना करता है । सामान्य नारी के लिए तो उसके प्रेमी द्वारा किया हुआ ऐसा प्रस्ताव परम सुखद होता है। किन्तु देवसेना का प्रेम सामान्य कोटि का नहीं है। वह अपने प्रियतम के प्रणय-प्रस्ताव से मुग्ध हो प्रेम के सच्चे आदर्श को नहीं भूलती । देवसेना, स्कन्द के पुनः पुन: अनुरोध करने पर उसके सामने अपने प्रेम का यथार्थ स्वरूप खोलकर रख देती है—"आह ! कहना ही पड़ा स्कन्दगुप्त को छोड़-न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा । अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे काम-ना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ ! मैं आपकी ही हूँ मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती ।" आदर्श सात्विक प्रेम में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण एवं कामना हीन अनन्य अनु-राग, यही दो प्रमुख विशेषताएँ हैं । इस दृष्टि से देवसेना का प्रेम आदर्श एवं अलौकिक है।

देवसेना के चरित्र में सामान्य नारी जीवन की अन्य विशेषताएँ भी हैं। साहस, कर्त्तव्यपालन, देशसेवा आदि विविध सात्विक भावों

से वह अलंकृत है। नाटक के प्रथम अंक में ही देश के मान और स्त्रियों की प्रतिष्ठा के लिए हम उसे विदेशियों के आक्रमण काल में अन्तःपुर की रक्षा करते हुए देखते हैं। वह एक वीर क्षत्राणी बाला के अनुरूप शस्त्रचालन द्वारा अपने असीम साहस का परिचय देती है। स्कन्दगुप्त के अज्ञात हो जाने के पश्चात् जब देश में घोर अराजकता विश्रृंखलता एवं पराजयपूर्ण भावना फैल जाती है तब देवसेना अपनी देशभक्ति पूर्ण ओजस्विनी संगीत लहरी से मृतकों में भी उत्साहपूर्ण जीवन संचार करती है। वह साम्राज्य के बिखरे हुए रत्नों को एकत्र कर उनके लिए भीख माँगती है और उनका भरण-पोषण करती है। मालव राजकुमारी देव-सेना आपत्तिकाल में भिक्षा वृत्ति का अवलम्बन कर अपनी सहिष्णुता का त्याग नहीं करती। भिक्षा माँगते समय जनसमूह के अन्दर कुछ असभ्य मनुष्य उसके प्रति वासनायुक्त कलुषित कटाक्ष करते हैं। पर्णदत्त उत्ते-जित हो जाता है। परन्तु देवसेना अपनी शीतल वाणी से उसे शान्त करती है—"क्या है बाबा! क्यों चिढ़ रहे हो? जाने दो, जिसने नहीं दिया उसने अपना कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।" देवसेना का चरित्र, आदर्श एवं अलौकिक होते हुए भी व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठित होने के कारण, परम लोकोपयोगी एवं मंगलमय है।

विजया

श्रेष्ठि-कन्या विजया हमें सर्वप्रथम अवन्ती दुर्ग में राजपरिवार के साथ विदेशियों के आक्रमण से अपने धन और जीवन की रक्षार्थ सशंकित और भयभीत सी दिखाई देती है। वह धन-कुबेर की पुत्री है अत उसमें क्षत्राणियों के सामन साहस और त्याग का सम्पूर्ण अभाव ही लक्षित होता है। वह कल्पना भी नहीं कर सकती कि स्त्रियाँ दुर्ग—रक्षा का भार अपने ऊपर ले सकती हैं। वह भीमवर्मा से कहती है—'दुर्ग-रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।' विजया, देवसेना के कहने पर भी आत्मरक्षार्थ छुरी तक अपने पास नहीं रखना चाहती है, और जयमाला एवं देवसेना के वीरोचित साहस को देखकर 'उन्हे आग की चिनगारियाँ' कहती है।

लोभ और भय के अतिरिक्त विलास भावना, मिथ्याभिमान, ईर्षा और संदेह ऐश्वर्यवालों की सहज मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। विजया मानों इनका पुंजीभूत रूप है। लोभ तो उसमे इतना है कि वह देश-रक्षा के लिए अपनी अपार धनराशि का एक क्षुद्र अंश भी नहीं दे सकती और अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए वह जयमाला से वीरत्व की मिथ्या दुहाई देती है—'किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।"

विजया के चरित्र की सबसे महान दुर्बलता उसकी उत्कट विलास कामना है। वह रूप और महत्व की प्राप्ति के लिए इतस्ततः मारी-मारी फिरती है और अन्त मे इसी मृगतृष्णा में वह अपने प्राण भी गवाँ बैठती है। विजया सर्वप्रथम स्कन्दगुप्त के स्वस्थ शरीर, सुन्दर रूप एवं उच्च स्थिति से प्रभावित हो उसके प्रति आकृष्ट होता है।

विजया के मन में स्कन्द के प्रति प्रणय वीरुध ज्योंही अंकुरित होता है कि वह स्कन्द की वैराग्य युक्त वार्तालाप को सुनकर अपने संदेह की आँधी से उसे उखाड़ फेंकती है। 'युवराज तो उदासीन है.......... दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है'। विजया की प्रेम-भावना में केवल रूप एवं ऐश्वर्य-मोह है। अतः उसमें अस्थिरता और अविवेक का प्राधान्य है। वह स्कन्द के पश्चात चक्रपालित के 'प्रशस्त वक्ष और उदार मुख-मण्डल' को देखकर एवं उसकी स्कन्द से अधिक वीर-दर्प-युक्त वार्तालाप सुनकर उसे ही अपने अनुरूप ठहराती है। चक्रपालित सम्भवतः उसकी पहुँच के सर्वथा बाहर है अथवा कुछ काल बाद ही भटार्क को प्राप्त कर लेने के कारण उसे उस ओर प्रयास करने का अवसर ही नहीं मिला, इसीलिए चक्रपालित का वह फिर ध्यान नहीं करती। भटार्क के व्यक्तित्व में उसे स्वेच्छित वस्तु प्राप्त होती है। भटार्क रूपवान और बलिष्ट तो है ही, साथ ही वह मगध का महाबलाधिकृत और विजया की भांति महत्वाकांक्षी है। विजया इतनी मोहान्ध और विवेकशून्या है कि एक बार के साक्षात् में ही वह भटार्क को अपना पति वरण कर लेती है। वह उसके साथ बन्दिनी होकर मालव राजसभा में सबके समक्ष अपना निश्चय खुल्लमखुल्ला प्रकट कर देती है। विजया के जीवन में यह उसकी महान् भूल है। विजया जिस प्रकार प्रथम साक्षात्कार में स्कन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित हुई थी उसी प्रकार स्कन्द के हृदय पर भी विजया के रूप और सौन्दर्य की छाप लग गई थी। स्कन्द के सामने ही भटार्क को वरण कर विजया ने स्कन्द के हृदय पर जो ठेस पहुँचाई वह उसके इन शब्दों से पूर्णतया व्यक्त है—"यह क्या किया तुमने विजया!" स्कन्दगुप्त की गम्भीर प्रकृति का अवगाहन विजया की शक्ति के परे है। विजया पतन की ओर क्रमशः बढ़ती ही जाती है। मिथ्याभिमान और सन्देह उसके हृदय में घेरा डाल लेते हैं, और उन्हीं की प्रेरणा से वह अनेक कुत्सित कर्मों की ओर अग्रसर होती है। वह स्कन्द की प्राप्ति के

मार्ग में देवसेना को रोड़ा समझती है। सन्देह ईर्ष्या में परिणित हो जाता है। विजया देवसेना से प्रतिशोध लेने के लिए प्रपंचबुद्धि और भटार्क के साथ उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचती है। वह देवसेना को छल-पूर्ण ढंग से श्मशान तक अपने साथ लाती है और प्रपंचबुद्धि के हाथ बलि देने के लिए सौंपकर अन्तर्ध्यान हो जाती है। स्कन्दगुप्त की चेष्टा से विजया के प्राण तो बच जाते हैं किन्तु उसके हृदय में विजया के लिए कोई स्थान नहीं रहता। स्कन्द उसे पहिले 'सुख शर्वरी की संध्यातारा' के समान समझता था वही अब उसे उल्कापिंड प्रतीत होने लगती है! विजया अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारती है। यह उसकी दूसरी महान् भूल है।

भटार्क को अपनाकर विजया कुछ समय तक कृत्रिम सुखों के द्वारा अपने मनोरंजन का विधान करती रहती है। भटार्क को पूर्ण आत्मसमर्पण कर वह बिडम्बना पूर्ण विलासमय जीवन व्यतीत करने लगती है। भटार्क अनन्तदेवी के इशारों पर चलता था। वह पुरगुप्त को सम्राट बनाने के लिए प्रतिश्रुत था। अत. विजया भी अनन्तदेवी की चाटुकारिता एवं पुरगुप्त की विलास-भावना में तत्पर होती है। कृत्रिम जीवन स्थायित्व-हीन होता है। स्वल्पकाल में ही वास्तविकता का अनुभव हो जाने पर उस जीवन के प्रति अभियुक्त विराग की जागृति स्वाभाविक है। विजया को शीघ्र ही वास्तविकता का पता चल जाता है और तब तो वह जिस वेग से उस कृत्रिम जीवन के प्रति उन्मुख हुई थी उससे दूनी तीव्रगति से वह पश्चात्पद होती है। उसे पुरगुप्त के विलासजर्जर शरीर एवं दुर्बल मन से घृणा हो जाती है। वह पुरगुप्त की विलासिता का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती। उसकी प्रतिहिंसा जागृत होती है और अब की बार वह अनन्तदेवी से उलझ पड़ती है। 'हृदय को छीन लेने वाले के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के स्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल शिखा से लहरदार होती है।' विजया अनन्तदेवी को उसके प्रणय की श्वेतों के कारण भर्त्सनापूर्ण खुली चुनौती

देती है। "जो झुका ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूँ। साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा। तुम्हारी समस्त कुमन्त्रणाओं को एक फूक में उड़ा दूंगी।" विजया की इन उक्तियों में उसके हृदय का थोथा क्षोभ ही है। वह अनन्तदेवी का किसी प्रकार का अनिष्ट करने में सर्वथा असमर्थ है। अतः अनन्तदेवी उसे फटकार कर दूर हटा देती है और विजया को यहाँ भी मुंह की खानी पड़ती है।

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। वासना की आँधी में एक लम्बे अर्से तक सरपट दौड़ने के पश्चात ठोकर लगने पर विजया रुकती है और अपने विगतजीवन का सिंहावलोकन करती है। वह अनुभव करती है 'मैं कहीं की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीला भूमि और उधर गम्भीर समुद्र।' वह अपने अन्तःकरण को टटोलने पर पाती है कि 'जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वाँछा है उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार, और जो पराए हैं उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति. ...... 'स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमण्ड से तुच्छ समझा, देवतुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया।' विजया अपने हृदयमन्थन द्वारा इस तथ्यपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचती है—'स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़ कर खो दिया—इस लोक का सुख (और) उस लोक की शान्ति।' विजया के जीवन में यथार्थ विवेक का उदय सिर्फ इसी अवसर पर होता है। यह विवेकोच्छ्वास परिस्थितिजन्य है। संस्कारों की प्रबलता के कारण वह टिकाऊ नहीं होता। शर्वनाग के प्रभाव से विजया देश में कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होकर चलती है और मातृगुप्त को 'गली गली कोने कोने पर्यटन' करके भारतवासियों को जगाने के लिए प्रोत्साहित करती है।

विजया में संस्कारों की प्रबलता है। उसके संस्कार उसे स्वार्थपरता, विलास एवं वैभवयुक्त जीवन की ओर निरंतर प्रेरित करने वाले हैं।

संस्कारजन्य इन हीन भावनाओं के प्रवाह में उसका विवेक टिक नहीं पाता है। वह सौदागरी मनोवृत्ति से अपनी अतुल धनराशि द्वारा स्कन्दगुप्त को अपने लिए क्रय करना चाहती है। देवसेना सम्बन्धी उसकी भ्रान्ति अभी उसमें अवशिष्ट है। वह सोचती है—'देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था, परन्तु विजया भी एक बार वही करेगी।' विजया के हृदय में देशसेवा गौण होकर कामना पूर्ति की लालसा प्रधान हो जाती है।

विजया वासनायुक्त विचारों के भँवर में चक्कर काटती हुई स्कन्द गुप्त के पास फिर पहुँचने का साहस करती है। स्कन्दगुप्त के समक्ष वह 'भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत' कर अपने छिपे हुए दो रत्नगृहों से उसे मोल लेने का प्रपंच रचती है जिससे कि स्कन्द उसके साथ 'बचे हुए जीवन का आनन्द' ले। विजया में मनुष्य को पहिचान कर उसके साथ व्यवहार करने की जरा भी शक्ति नहीं है। वह अपने रङ्गीन चश्मे के अन्दर से ही शेष सृष्टि को देखती है। तभी उसे पग पग पर ठोकर खानी पड़ती है। वह जिस प्रकार देवसेना, भटार्क, अनन्तदेवी आदि को समझने में भूल करती है उसी प्रकार वह स्कन्द को कभी भी नहीं पहचान पाती। स्कन्द 'सदृश त्यागी, देशसेवाव्रती एवं गम्भीर स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए विजया के प्रलोभनों में पड़ना असम्भव है। वही होता भी है। स्कन्द उसे फटकार देता है— विजया! पिशाची! हट जा, नहीं जानती? मैंने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा की है। स्कन्दगुप्त के इस उत्तर से विजया की स्थिति निराशामय हो जाती है। अभी वह नैराश्य के अन्धकार से बाहर होने भी नहीं पाती कि भटार्क की भर्त्सनाएं उसे विश्व के अनन्त अन्धकार—मृत्यु की गोद—में मुँह छिपा लेने के लिए विवश कर देती हैं और वह छुरी मार कर आत्महत्या कर लेती है। अतृप्तविलास-वासनामय जीवन दुःख-पूर्ण होता है और उसका अन्त जीवन की निश्चित अवधि के पूर्व हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

रामा

रामा 'स्कन्दगुप्त' नाटक की गौण स्त्री-पात्र है। आधिकारिक कथानक के प्रमुख पात्रों से उसका सम्बन्ध अधिक नहीं है। किन्तु नाटककार ने उसके चरित्र में भारतीय नारी-जीवन की प्रेरक शक्ति एवं पवित्र कृतज्ञ भाव की जो प्रतिष्ठा की है, उससे वह चमत्कृत हो उठा है, और रामा के साधारण व्यक्तित्व में विशिष्टता लक्षित होती है।

रामा में पति को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए उत्कट अभिलाषा और तदनुरूप प्रयास है। वह अपने पति पर अधिकार पूर्ण प्रभाव भी रखती है तथा वह उसके आचरणों की कटु आलोचना भी करती है। उसका पति शर्वनाग भी उसके प्रभाव को स्वीकार करता है। वह रामा से कहता है—मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ। किन्तु सिंहवाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।" रामा यद्यपि प्रकट में उसे कीड़े से भी अपदार्थ बताती है किन्तु उसके अन्तःकरण में पति के प्रति वास्तविक अनुराग की कमी नहीं है। वह सात्विक अनुराग से प्रेरित हो पति को जीवन में प्रगति देने के लिए उसके प्रति भर्त्सना पूर्ण शब्दों का व्यवहार करती है। शर्वनाग के प्रति उसका सच्चा सहानुभूति पूर्ण हृदय मालव की न्याय सभा में स्पष्टतया दिखाई पड़ती है। स्कन्द जब गम्भीर मुद्रा से शर्वनाग से कहता है—"ठहरो शर्व मैं तुम्हें आजीवन बन्दी बनाऊँगा" तब रामा उसका यथार्थ भाव न समझ कर तथा पति के अमंगल की कल्पना से प्रताड़ित होकर 'आश्चर्य और दुःख से देखती है।"

रामा अपने पति को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोरता और कोमलता दोनों का अवलम्बन लेती है। यह जानकर कि उसका पति देव-

की की हत्या के लिए प्रतिश्रुत है वह पहिले तो उसकी कठोरतम भर्त्सना करती है—"..... क्षोभ के वश मनुष्य से पशु होगया है। रक्त-पिपासु! क्रूर-कर्मा मनुष्य! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा, नरक की दुर्गन्ध! ....।" इस कठोर भर्त्सना के बाद भी जब वह उसे अपने संकल्पों पर दृढ़ देखती है तब वह अत्यन्त कोमलता और विनम्रता से उसके पैर पकड़कर प्रार्थना करती है और उसके विवेक को जागृत करने की चेष्टा करती है—"तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता; ऐसे धोखे के सत्य को लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी! लौट आओ!" वह अपने स्वामी को मनुष्य रूप में लाने के लिए अपना जीवन तक संकट में डाल देती है और उसी सती के पुण्य से उसका पति मृत्यु से ही केवल नहीं बचता वरन् वह मनुष्यत्व को प्राप्त हो जाता है।

रामा की स्वामिभक्ति पतिभक्ति से भी अधिक उत्कट और त्यागपूर्ण है। कृतज्ञता हृदय की सात्विक अनुभूति है। इसके समक्ष समस्त व्यक्तिगत स्वार्थ तुच्छ हो जाते हैं। जिसके प्रति यह अनुभूति होती है उसका मंगल आत्ममंगल से अधिक अभीप्सित होता है। उसकी रक्षा के लिए कृतज्ञ अपने प्रगाढ़ स्नेही एवं पूज्य की भी उपेक्षा कर देता है।

रामा के हृदय में अपनी स्वामिनी देवकी के प्रति कृतज्ञता की सात्विक अनुभूति है। वह शर्वनाग से कहती है—"मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण! वह मेरा पति क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।" रामा की अनुभूति इतनी तीव्र है कि वह अपने पति के प्रति मोह और कर्त्तव्य को भी भुलाकर देवकी से शर्वनाग की कुकर्म-योजना को प्रकट करदेती है। इतना ही नहीं वह उक्त योजना को विफल करने के लिए प्राण प्रण से चेष्टा करती है। वह देवकी की हत्या के लिए तत्पर सर्वनाग की भर्त्सना कर उसे उस कार्य से विरत करने की चेष्टा ही

नहीं करती अपितु वह स्वामिनी की रक्षार्थ आत्मबलि देने को भी प्रस्तुत हो जाती है। ज्योंही शर्वनाग खड्ग 'उठाता है कि रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है।' वह हत्यारों को खुली चुनौती देती है—'पहिले मैं मरूँगी, तब महादेवी।' ममत्व के इस सम्पूर्ण त्याग की प्रतिष्ठा द्वारा नाटककार ने रामा के चरित्र को पवित्र गौरव से विभूषित कर दिया है और सामाजिकों की श्रद्धा और सहानुभूति का चिर अधिकारी बना दिया है। नाटक के चतुर्थ अंक में एक बार पुनः जब चिर दुखिया रामा अपने पुत्रों की हूणों द्वारा हत्या के कारण बिलखते हुए अर्धविक्षिप्त दशा में आती है तो पाषाण हृदय भी पसीज उठते हैं।

—❀—

कमला

कमला, भटार्क की मां है। किन्तु उसके हृदय में वात्सल्य की दुर्बलता नहीं है। स्नेहातिरेक में सामान्य कोटि की माताएं अपने पुत्रों का इष्ट और अनिष्ट विवेक पूर्वक न विचार कर उनके प्रत्येक कार्य का अनुमोदन करती हैं। कमला का वात्सल्य-प्रेम विवेक की दृढ़ भित्ति पर है। वह भटार्क के *राष्ट्रद्रोही एवं अमानवीय कार्यों का तीव्र विरोध करती* है। वह अपने पुत्र की वास्तविक कल्याण और पवित्र कीर्ति की अभिलाषा करती है। उसकी यह सद् आशा है कि 'पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पददलित भारत भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा।' किन्तु जब भटार्क अपने कुत्सित कर्मों की अवतारणा से उसकी इस सदाशा पर कुठाराघात करता है तो वह मूक होकर नहीं बैठती, वरन् वह उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए अपने महत्त्वपूर्ण पद के अनुरूप उसकी भर्त्सना करती है—' तू राजकुल की शान्ति का प्रलय मेघ बन गया; और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह! नीच! कृतघ्न!! कमला कलंकिनी हो सकती है परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता उसके रक्त में नहीं।"

कमला का चरित्र नीतिकार की इस उक्ति को चरितार्थ करता है—'कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति।' वह भटार्क के कुकृत्यों का विरोध ही नहीं करती वरन् उनका प्रतिकार करने के लिए वह उसे दण्डित कराने के लिए उद्यत भी दिखाई देती है। वह विजया से कहती है—"मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दण्डनायक को समर्पित कर देती।" इसके बाद ही जब गोविन्दगुप्त के हाथों भटार्क बन्दी हो जाता है तब वह सन्तोष प्रकट करती है—

"अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।"

भटार्क के हृदय में मातृ-भक्ति की सच्ची भावना है। वह अपनी माता के ओजपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित है। वह उसके उपदेशों और भर्त्सनाओं को ध्यान से सुनता है। कमला भी भटार्क की विचलित मानसिक दशा में, उसके कोमल मर्म को अपनी कठोर आलोचनात्मक वाणी के तीव्र कशाघातों से प्रताड़ित कर उसे सन्मार्ग की ओर उन्मुख करने में सफल होती है। भटार्क की आँख खोलना कमला का ही काम है। वह अपनी वास्तविक दशा का अनुभव, माता के ही सदुपदेशों से करता है और तभी यह प्रतिज्ञा उसके हृदय से निकल कर मुखरित होती है—"आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुचाऊँगा।"

कमला के हृदय में असीम जीवन शक्ति है। वह भग्न-हृदयों में अपनी ओजस्विनी आशापूर्ण वाणी द्वारा उत्साह और धैर्य का सचार करती है। कुभा के तीव्र प्रवाह से निकलने पर स्कन्द अपने को अकेला पाने से जब अत्यंत निरुत्साहित और हताश होता है तब कमला ही उसे ढाढ़स बधाती हुई कहती है—"कौन कहता है तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति जागृत करो। · · 'उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ, और रोने वालों को हँसाओ।" कमला की वाणी में वह ओजस्विता, वह तीव्र प्रेरणा शक्ति और वह अनुभूति की वास्तविकता है कि स्कन्द की मुमूर्ष अन्त:प्रवृत्तियाँ पुनः सजग हो जाती हैं और वह कठोर कर्म क्षेत्र में साहस पूर्वक कूद पड़ता है। कमला, उद्देश्य की महानता, चरित्र की पवित्रता और कर्तव्य की दृढ़ता से, आदर्श भारतीय माता के रूप में नाटक में चित्रित है।

देवकी

महादेवी देवकी राजमाता हैं। वृद्ध कुमारगुप्त की विषयविह्वलता के कारण यद्यपि देवकी के आग्रहों का समुचित पालन नहीं होता, किन्तु फिर भी वह सर्वथा उपेक्षित नहीं है। भगवान चक्रपाणित के पूजन के लिए जो आग्रह पूर्ण संदेश वह मुद्गल के द्वारा सम्राट् के पास भेजती है उसका सर्वथा नकारात्मक उत्तर नहीं मिलता।'

महादेवी देवकी स्वयं प्रकृति से उदार, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ, निर्भीक और कोमल हृदय वाली हैं। आततायी उन्हें त्रस्त नहीं कर सकते, विपत्तिकाल में वह भगवान की करुणा का ही अवलम्बन माँगती है; वह जघन्य अपराध करने वालों को क्षमादण्ड से प्रताड़ित कर उनकी आत्मा को स्ववश करने का संकल्प रखती है तथा आत्म मर्यादा एवं जीवनादर्शों की रक्षा के लिए प्राणों को विसर्जित करने में भी वह पश्चात्पद नहीं दिखाई पड़ती हैं। अनन्तदेवी और भटार्क जो उसके सामने उसके प्राण लेने के लिए खड़े हैं, उनकी दर्पमय उक्तियों से किंचित भी विचलित न होकर वह दृढ़तापूर्वक उनकी प्रत्येक बात का मुँहतोड़ उत्तर देती हैं। अनन्तदेवी के यह पूछने पर कि—'क्यों देवकी! राज-सिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई?' वह (देवकी) उसको निर्भीकतापूर्वक उत्तर देती है—'परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।' रामा अपनी स्वामिनी देवकी के स्थान पर आततायियों के हाथ आत्मबलि देने को प्रस्तुत हो जाती है" किन्तु देवकी उसकी इस बात को अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध पाकर उसका विरोध करती है और वह उन आततायियों के हाथों स्वयं मरने को प्रस्तुत हो जाती है। वह रामा से कहती है—"शांत हो रामा देवकी अपने रक्त के बदले और

किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल रे! रक्त के प्यासे कुत्ते! चल, अपना काम कर।"

देवकी घोर विपत्तिकाल में भी अपने असीम धैर्य का परिचय देती हुई 'भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान' करती है। वह दुःख सुख दोनों में ही अपनी प्रार्थना विश्वम्भर के श्रीचरणों में भेजती है। यह उसकी परम ईश्वर परायणता और धार्मिक मनोवृत्ति का परिचायक है।

देवकी गम्भीर स्वभाव की है। यह गम्भीरता उसके राजमातृत्व पद के अनुकूल है। वह जिस प्रकार घोर विपत्ति में विचलित नहीं होती उसी प्रकार वह वैभव एवं सफलता के क्षणिक जीवन में मदान्ध नहीं होती। उसकी सहज उदारता उसके चरित्र का भूषण है। मालव की राजसभा में उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचने वाले शर्वनाग, भटार्क आदि जब न्यायार्थ उसके और स्कन्द के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं तब वह स्कन्द से यही कामना करती है—"तुम्हारी माता की भी यह मङ्गल-कामना है कि तुम्हारा शासनदण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमाप्रार्थिनी हूं।" निस्सन्देह देवकी की यह देवोपम उदारता विदेशियों को भी प्रभावित करने वाली है और धातुसेन भी उसकी मुक्तकण्ठ से सराहना किए बिना नहीं रहता। वह कहता है—"आर्यनारी सती! तुम धन्य हो इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊंचा रहेगा।" देवकी के प्रभाव से ही समस्त षड्यन्त्रकारी बन्धनमुक्त हो जाते हैं और शर्वनाग को उसी की सिफारिश से अन्तर्वेद का विषय-पति बना दिया जाता है।

देवकी का अधिकांश जीवन दुःखमय ही है। वह जिस प्रकार प्रौढावस्था में पति की विलास प्रियता और सपत्नी की कूटनीति से पति-सुख की पूर्ण अधिकारिणी नहीं रहती उसी प्रकार पुत्र-वियोग की असह्य वेदना में ही उसके प्राण जाते हैं। वह पति और पुत्र दोनों के

पूर्ण सुखों से वञ्चित रहती है । पुत्र वियोग में उसका प्राणत्याग करना उसके असीम वात्सल्ययुक्त कोमल हृदय का परिचायक है। वास्तव में देवकी जैसी गम्भीर और उदार नारी सृष्टि 'स्कन्दगुप्त' नाटक में दूसरी नहीं है। वह अपने राजमातृत्व पद को अपने स्वभाव एवं आचरणों से सदैव अलंकृत करती हुई पुत्र-प्रेम मे प्राणत्याग कर अयोध्याधिपति राजा दशरथ के समान अक्षय कीर्ति की भागी बनती है।

अजातशत्रु

नाटकीय क्षेत्र में अजातशत्रु का पदार्पण क्रूरता, कठोरता एवं हिंसक मनोवृत्तियों के साथ होता है। निर्बल एवं निरीह मृगों की, उसके चित्रक द्वारा, हिंसा में उसे विनोदपूर्ण आनन्द की अनुभूति होती है और उसके सम्भावित अभाव में वह आकुल प्रतीत होता है। 'क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया? मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा?' क्रूरता और कठोरता का परस्पर समवाय सम्बन्ध है। अजातशत्रु के चरित्र में ही उसका उदाहरण है। लुब्धक द्वारा मृगशावक न लाने का कारण प्रस्तुत किए जाने पर उसकी क्रूरता, कठोरता का अनुगमन करती है—'हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूं। समुद्र! ला तो कोड़ा।' कुमारावस्था की इस बीजरूप क्रूरता एवं कठोरता का विकास, अजातशत्रु के भावी चरित्र मे पूर्णतया प्रदर्शित है। सम्राट् होने पर, काशी की प्रजा की विरोध वार्ता, उसकी सहज कठोर एवं क्रूर प्रकृति को प्रदीप्त करने के लिए, मानो ईंधन का काम करती है। वह तत्काल उबल पड़ता है—"क्या यह सच है समुद्र! मैं यह क्या सुन रहा हूँ! प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है? चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। 'राज कर मैं न दूंगा—यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई? काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है? तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नहीं किया?" अजातशत्रु की उद्दण्ड क्रूर प्रकृति क्रमशः विकासशील है। पराजित एवं घायल प्रसेनजित् को अरक्षित अवस्था में पकड़ कर मार डालने की चेष्टा में वह अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई दिखाई पड़ती है। उसकी इस प्रचण्ड क्रूरता, कठोरता एवं हिंसा-प्रियता का अनुभव उसके उस कथन से होता है जो प्रसेनजित् के

न पाने पर वह मल्लिका से कहता है—"कहाँ गया? मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना कहाँ गया? रमणी! शीघ्र बता—वह घमण्डी कोशल सम्राट् कहाँ गया?"

क्रूर एवं कठोर होने के साथ ही अजातशत्रु दुर्विनीत भी है। वह अपनी ज्येष्ठा भगिनी, विमाता एवं पिता इन सबकी यथावसर अवज्ञा, उपेक्षा और अनादर करता रहता है। गुरुजनों के उपदेशपूर्ण एवं कल्याण-युक्त वचनों में, उसे आत्मविरोध अनुभूत होता है। आरम्भ में ही, जब उसकी बहिन पद्मा उसे कोमल व्यवहार और शीतल आचरण का उपदेश करती है, तो वह उसे अनुचरों के लिए आज्ञाभङ्ग का प्रोत्साहन समझता है और बड़ी निर्ममतापूर्वक उसे फटकारता है—'*वह तुम्हारी बढ़ाबढ़ी मैं सहन नहीं कर सकता।*' वह अपने पिता से राज्यशासन प्राप्त करने में भी विनय का प्रदर्शन नहीं करता। राज्यभार ग्रहण कर लेने पर तो उसमें गुरुजनों के प्रति विनयाचरण के स्थान पर तिरस्कार एव कपटाचरण के ही दर्शन होते हैं। बिम्बसार के समय में जो याचक धनधान्यादि से पुरस्कृत एवं सेवित होते थे उन्हें निराश कर लौटा दिया जाता है। इतना ही नहीं वरन् वह अपनी विमाता वासवी और पिता पर नियन्त्रण बढ़ाने का प्रस्ताव तक परिषद् से स्वीकार करवाता है और इसके अनुरूप वह व्यवहार भी करता है। अजातशत्रु के इस प्रकार क्रूर एवं दुर्विनीत चरित्र-विकास में उसकी माता की शिक्षा का बड़ा प्रभाव है। विवेक क जाग्रत होने पर वह स्वयं इस बात का अनुभव करता है। वह अपने पिता से स्पष्ट रूप से कहता है—'नहीं पिता, मुझे भ्रम होगया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जङ्गलीपन की स्वतन्त्रता का अभिमान—अपने को विश्व भर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा आत्म सम्मान।" जीवन की अपरिपक्व अवस्था—किशोरवय में माता की शिक्षा एव पार्श्ववर्तियों का प्रभाव जीवनदशा निर्दिष्ट करने

में बहुत सहायक होता है दुर्भाग्य से अजातशत्रु को दोनों ही जीवन के आदर्शविरोधी मार्ग में प्रेरित करने वाले मिले हैं। छलना, देवदत्त और समुद्रदत्त आदि के द्वारा ही उसमें क्रूरता कठोरता और अविनय आदि का वपन और विकास हुआ है।

अजातशत्रु स्वतन्त्र विचार एवं कर्तृत्व से विहीन है। उसकी माता छलना और देवदत्त व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का उसे सहज साधन बनाते हैं। छलना अजातशत्रु को भारतखण्ड का सम्राट तो देखना चाहती है किन्तु साथ ही वह वीरप्रसूती होकर गर्व से उससे चरण-वन्दन भी कराना चाहती है। देवदत्त गौतम के बढ़ते हुए प्रभाव को ईर्ष्यावश नष्ट करना चाहता है। इन दोनों ने ही अपनी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए *अजातशत्रु* को अपने *कार्यसाधन* का अस्त्र बनाया है। नाटक के नायक होने के नाते अजातशत्रु में स्वावलम्बन का अभाव एवं परामुखापेक्षिता का आरोप एक दोष है।

अजातशत्रु के चरित्र मे संस्कार एवं महत्वासजन्य कतिपय दुर्बलताओं के होते हुए भी कुछ स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं। वह साहसी, पराक्रमी, और कार्यकुशल है तथा गुणों को यथार्थ रूप में परखने वाला है। वह अपने प्रचण्ड पराक्रम से प्रसेनजित् को पराजित करता है। आत्म-सम्मान की भावना से वह प्रसेनजित् के कारागृह में बन्दी दशा में भी दीर्घकारायण को उसकी मुखरता का मुँहतोड़ उत्तर देता है मैं—तुमको उत्तर नहीं देना चाहता। तुम्हारे महाराज से मेरी प्रतिद्वन्द्विता है—उनके सेवकों से नहीं।" इसी प्रसङ्ग में दीर्घकारायण को मर्यादा की सीमोल्लंघन करते देख वह उसे द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारता है—"कारायण! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा हो तो तुमको द्वन्द्वयुद्ध के लिए आह्वान करता हूँ।" अजात के इस कथन मे उसका साहस भी प्रकट होता है।

अजात के हृदय मे क्रूरता और कठोरता यद्यपि विशेष परिमाण में

है किन्तु फिर भी सात्विक अंश का उसमें सर्वथा अभाव नहीं है। हृदय की इस सात्विकता के प्रभाव से ही वह अपने दर्प की चरमावस्था में मल्लिका की महिमामयी मूर्ति के आगे नतमस्तक हो जाता है और उसकी पीयूषवर्षिणी वाणी द्वारा अपने प्रज्वलित हृदय को शान्त करता है। वह मल्लिका के प्रभाव से अभिभूत होकर कहता है—"देवी आप कौन हैं? हृदय नम्र होकर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी तो मैंने कभी नहीं सुनी।"

मल्लिका के व्यक्तित्व का प्रभाव अजात के हृदय पर गम्भीरता के साथ पड़ता है। किन्तु वह स्थायी नहीं रहता। युद्ध व्यापार से उसे विरक्ति होती है पर वह तितिक्षा का रूप नहीं ग्रहण करती। अजातशत्रु अपनी माता द्वारा युद्ध के लिए पुनः उत्तेजित किए जाने पर कहता है— "माँ! क्षमा हो। युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्वमय चित्र न जाने किस षड्यन्त्र की मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। ......युद्धस्थल का दृश्य बड़ा भीषण होता है।"

अजात युद्ध-विरोधी अपनी इस धारणा पर स्थिर नहीं रह पाता। देवदत्त विरुद्धक, और छलना की कूटचातुरी द्वारा वह विवशता पूर्वक युद्ध-कार्य्य में पुनः संलग्न होता है। वह इस त्रिगुट की मन्त्रणा को 'जैसी माता की आज्ञा' कहकर स्वीकार करता है। उसके इस कथन में मातृभक्ति ही अधिक व्यंजित होती है, युद्धेच्छा कम। प्रसेनजित् के सम्मुख द्वितीय युद्ध में पराजय का कारण प्रधान रूप से उसकी विरक्ति-पूर्ण अन्यमनस्कता है।

अजात के जीवन का मधुरपक्ष बड़ा भावुक एवं हृदयग्राही है। जीवन के घोर संघर्ष तथा संकटपूर्ण अवसर में उसे अपने प्रेमालम्बन के दर्शन होते हैं। कोशलकुमारी वाजिरा के स्वरूप की कमनीयता एवं सौन्दर्य की मधुरिमा हठात् उसके आन्दोलनपूर्ण हृदय को अपनी ओर

आकृष्ट कर लेती है। वह बरबस उससे पूछ ही बैठता है—"इस श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण सी तुम कौन हो ? सुन्दरी, कई दिन मैंने देखा, मुझे भ्रम हुआ कि यह स्वप्न है। किन्तु नहीं, अब मुझे विश्वास हुआ है कि भगवान ने करुणा की मूर्ति मेरे लिए भेजी है और इस बन्दीगृह में भी कोई उसकी अप्रकट इच्छा कौशल कर रही है ?"

प्रेममयी वाजिरा के स्निग्ध प्रभाव से उसके हृदय की अवशिष्ट क्रूरता और कठोरता सदा के लिए विलीन हो जाती है। प्रेम के व्यापक क्षेत्र मे उनका तिरोभाव हो जाता है। अजात इस बात को स्वतः स्वीकार करता है—"सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी होगया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया ·· ··"। अजातशत्रु प्रेम की पावन वेदी पर अपना समस्त अहंभाव न्यौछावर करता है। वह सच्चे हृदय से ही वाजिरा को विश्वास कराता है—'मैं अपने समेत उसे तुम्हें लौटा देता हूं प्रिये ! हम तुम अभिन्न हैं। यह जङ्गली हिरन इस स्वर्गीय सङ्गीत पर चौकड़ी भरना भूल गया है।' अजात का प्रेम वासनायुक्त नहीं है। चारित्रिक पवित्रता अजात के चरित्र का भूषण है। उसने जीवन में एकमात्र वाजिरा के गुण एवं स्वरूप पर मुग्ध हो उसके प्रेम का प्रतिदान किया। इस पारस्परिक प्रेमभाव में अनन्यता है। उसका प्रभाव सात्विक एवं उभयपक्ष के लिये मङ्गलमय है।

प्रसेनजित् के द्वारा द्वितीय युद्ध मे पराजयरूप गहरी ठोकर खाने से तथा मल्लिका और वाजिरा के करुणामय एवं प्रेमपूर्ण प्रभाव से अजात के समस्त सहवासजन्य दोषों का परिहार हो जाता है। वह कारागृह से मुक्त होते ही अपनी विमाता वासवी की गोद मे ऐसी शीतलता एवं शान्ति का अनुभव करता है जैसी उसे पहिले कभी नहीं अनुभूत हुई थी। वह स्वयं कहता है—"कौन ? विमाता नहीं, तुम मेरी माँ हो। माँ ! इतनी ठण्डी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की

शीतलता का अनुभव किया ।''

ग्लानि की अनुभूति आत्मसुधार का प्रथम सोपान है। अजात अपनी भूलों को मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर अपनी विमाता वासवी, बहिन पद्मा और पिता से क्षमा माँगता है और पुनः पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त कर सबका स्नेहभाजन बनता है। इस प्रकार नाटक के अन्त में हम अजात को राज्य, पत्नी एवं पुत्र लाभ तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण मनुष्यत्व लाभ करते हुए पाते हैं। नाटक का आदर्श करुणा, अहिंसा, विश्वमैत्री आदि के द्वारा कल्पित देवत्व की मनुष्यत्व मे प्रतिष्ठा करना है। अजात के चरित्र में नाटक के अवसान में पूर्ण मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार अजात ही नाटक के भौतिक फल—राज्य, पुत्र दारादि—की प्राप्ति करता है तथा वही उसके आध्यात्मिक फल का भी सम्पूर्णतः भागी होता है। उसकी कुटिलता एवं क्रूरता दूर हो जाती है तथा वह प्रेम एवं विनय युक्त आचरणों द्वारा सबमे सौमनस्य सम्पादित करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण फल-लाभ की दृष्टि से वही नाटक का नायक है।

बिम्बसार

बिम्बसार मगध का वृद्ध सम्राट् है। वह अपनी छोटी रानी छलना और पुत्र अजात के विद्रोह की आशङ्का से जीवनकाल मे ही राज्यभार अपने पुत्र को सौंप कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करता है। राज्यत्याग उसने आत्मप्रेरणा से नहीं किया है। एक ओर तो उसके सामने उसकी रानी छलना की धमकी है—"अपको कुणीक के युवराज्यभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।" दूसरी ओर गौतम का उपदेश उसके सामने है—"तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बनादो और इस भीषण भोग से कुछ विश्राम लो" बिम्बसार इस प्रकार परिस्थिति की प्रेरणा से वाह्य-रूपेण राज्य त्याग तो अवश्य करता है किन्तु अधिकारों के प्रति उसे सर्वथा वैराग्य नहीं हो पाता है। वह समय समय पर दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस राज्यमोह पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसके हृदय में मोह और विवेकपूर्ण विरक्ति के बीच जब द्वन्द्व छिड़ता है तो उसमे अपर की ही विजय होती है। इसमें उसे बड़ी रानी वासवी की सहायता मिलती है। बिम्बसार मानों अपना मन समझाने के लिए ही एक स्थल पर कहता है—"पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नही रह जाता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।" वासवी इस धारणा को दृढ़ करने के लिए तत्काल उसकी प्रोत्साहनयुक्त पुष्टि करती है—'मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वंचित होने का दु:ख नहीं।"

बिम्बसार वानप्रस्थ ग्रहण करके भी सुख शान्ति से कालयापन नही कर पाता। अपने पुत्र अजात के क्रूर व्यवहारों से उसे क्षोभ होता है। वह आगे चलकर छलना के दम्भपूर्ण आचरणों से क्षणिक रोष का

भी रूप ग्रहण कर लेता है। याचकों के निराश लौटने में बिम्बसार को वेदना की अनुभूति होती है। वानप्रस्थ आश्रम में भी उसकी स्वतन्त्रता पर अजात द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिबन्ध उसे क्षुब्ध कर देता है। फिर भी वह गम्भीर है और अपने विचारों पर दृढ़ रहता है। छलना जब मर्य्यादा की सीमा का उल्लंघन कर व्यङ्ग-मिश्रित कटूक्तियों द्वारा बिम्बसार के समक्ष ही वासवी का मर्मच्छेद करने को उद्यत हो जाती है, तब वह अपने को संयमित नहीं रख पाता। वह आत्मगौरव से सचेष्ट हो छलना की भर्त्सना करता है—"छलना ! मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है; किन्तु मनुष्यता ने अभी मुझे नहीं परित्याग किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी !—चली जा। तुझे लज्जा नहीं, बर्बर लिच्छिवी रक्त !" बिम्बसार का यह रोष मर्य्यादा सम्मत और सामयिक है।

राज्य-सत्ता के हस्तान्तरित होने का क्षोभ बिम्बसार के मानसिक जगत तक ही रहता है। व्यवहार क्षेत्र में वह अपना उससे विरोध व्यक्त नहीं करता। वासवी द्वारा आँचल में प्राप्त काशी को हस्तगत करने में न तो बिम्बसार की प्रेरणा ही है और न वह उसकी चेष्टा ही करता है। वह तो इस ओर अपनी विरक्ति और अन्यमनस्कता ही प्रदर्शित करता है। काशी की आय को हाथ में लेने के लिए वासवी जब प्रस्ताव करती है तो बिम्बसार यही कहता है—'मुझे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा देवी, जिन्हें अभी छोड़ आया।" बिम्बसार के इस कथन में उसकी सच्ची निस्पृहता एवं अधिकार सुख से उदासीनता प्रकट होती है। बिम्बसार यदि चाहता तो अपने साधनों और पूर्व सम्बन्धों के बल से पुनः सत्ता प्राप्त कर सकता था। किन्तु उसने बाहरी सहायता की सदा उपेक्षा की और राष्ट्रीय झगड़े को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। जीवक, कौशाम्बी और कोशल, मगध का समाचार पहुँचाने तथा सम्भवतः उनकी सहायता प्राप्त करने जाना चाहता है। बिम्बसार इसका समर्थन नहीं करता है। वह जीवक से सच्चे हृदय से कहता है—'नहीं।

जीवक ! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता ।'

बिम्बसार को वैभवपूर्ण बाहरी आडम्बरों और उपाधियों से सच्ची विरक्ति है। वह 'सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल' होने की कामना करता है जिससे संसार की दृष्टि उस पर न पड़ सके। उसे अपने लिए सम्राट् शब्द का सम्बोधन भी अरुचिकर प्रतीत होता है। जीवक जब उसे सम्राट् कह कर सम्बोधित करता है, तब वह उसे डाँटता है--'चुप ! यदि मेरा नाम न जानते हो तो मनुष्य कहकर पुकारो। वह भयानक सम्बोधन मुझे न चाहिये।' महत्व के प्रति इस अनन्य विराग के मूल में बिम्बसार की गहरी जीवन-अनुभूति है। गौतम का उपदेश तो एक ही बार उसे मिलता है। उसने राज्यपद से पृथक होकर एक दर्शक की भाँति राज्य और वैभव के लिए चारों ओर द्वेष, कलह, युद्ध, हत्या, उत्पात आदि भीषण दृश्य देखे। उसका मानव-हृदय सजग हुआ। वैभव और अधिकार—सुख समस्त उपद्रवों के मूल में उसे दिखाई पड़े। अतः उसकी विरक्ति क्रमशः गम्भीर और दृढ़ होकर पुष्ट हो गई।

वस्तुतः बिम्बसार ने जिस वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण किया—चाहे वह अनिच्छा और विवशता से ही क्यों न हो—उसने उसका व्यवहारों द्वारा यथाविधि पूर्णतया पालन और निर्वाह किया। इस दृष्टि से उसका चरित्र आदर्श एवं सराहनीय है।

नाटककार ने उसके जीवन का अन्त परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्तन और सुखानुभूति के अतिरेक से दिखाया है। यह पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। राज्य-त्याग के पश्चात बिम्बसार अपनी रानी छलना और पुत्र अजात के क्रूर एवं दुर्विनीत आचरणों से निरन्तर सन्तप्त-हृदय रहता है। पारस्परिक विद्रोह और कलह उसे निरन्तर चिन्तनशील बनाकर उसके हृदय की शक्ति को दुर्बल कर देते हैं। घटनाओं के घात-

प्रतिघात से जब छलना और अजात की प्रकृति में आमूल परिवर्तन होता है, तथा जब वे पुनः विनीत भाव से अपने अपराधों की क्षमा मांगते हुए उसके सामने आते हैं और साथ ही पद्मा जब अजात के विवाह और पुत्र-जन्म का सुखद समाचार उसे देती है तो उसका क्षीण हृदय बोझिल होकर सहसा बैठ जाता है। बिम्बसार अपने अन्तिम कथन में इसी बात को कहता भी है—'इतना सुख एक साथ मैं सहन न कर सकूँगा! तुम सब बिलम्ब करके आए।'

——※——

प्रसेनजित्

कोशलनरेश प्रसेनजित नाटक के प्रथम अङ्क में, अदूरदर्शी क्रोधी, एवं ईर्षालु प्रकृति का दिखाई पड़ता है। वह अजातशत्रु के 'क्षुद्र विप्लव से' उत्तेजित होकर अपने पुत्र विरुद्धक पर अकारण क्रोध प्रदर्शित करने लगता है और अपनी अदूरदर्शिता से उसे राष्ट्र का शत्रु बना लेता है। अमात्य ने यथार्थ रूप से उसके इस कार्य्य की आलोचना उसके सामने की—"किसी दूसरे के पुत्र का कलङ्कित कार्य्य सुनकर श्रीमान् उत्तेजित हो, अपने पुत्र को दण्ड दे, यह तो श्रीमान् की प्रत्यक्ष निर्बलता है।"

प्रसेनजित् के चरित्र का जघन्यतम अपराध अपने प्रधान सेनापति बन्धुल से ईर्षा प्रेरित विश्वासघात है। बन्धुल स्वामिभक्त एवं रणकुशल पराक्रमी सेनानायक है। उसके पराक्रम से सर्वत्र विद्रोह का दमन हो जाता है। प्रसेनजित् वाह्यरूप से तो बन्धुल की सराहना करता है किन्तु सैनिक विजयों के साथ ही बन्धुल के बढ़ते हुये प्रभाव को देखकर वह सशंकित हो उठता है। वह बन्धुल की हत्या के लिए शैलेन्द्र नामधारी डाकू के पास गुप्त आज्ञापत्र भेजता है। बन्धुल के प्रति उसका विद्वेष और कपटाचरण उसकी अदूरदर्शिता तथा निम्नतम मनोवृत्तियों का परिचायक है। वह अपनी इन्हीं क्षुद्रताओं और अदूरदर्शिता के कारण अजात द्वारा युद्ध में पराजित होता है। जो राजा अपने सेनापति के साथ विश्वासघात करता है उसकी सेना का उसे सच्चे हृदय से सहयोग न देना स्वाभाविक ही है।

पापाचरण मनुष्य की मानसिक शान्ति का शोषण करता है। पाप का भय हृदय का मंथन करता हुआ स्वतः उबल उबल कर बाहर आने लगता है। लोकभाषा में इसे ही कहते हैं कि 'पाप सर पर चढ़कर बोलता

है।' प्रसेनजित् बन्धुल के प्रति किए कपटाचरण से अपनी मानसिक शान्ति खो देता है। पाप की प्रबल अनुभूति स्वतः ही व्यक्त होने लगती है। प्रसेन स्वयं मल्लिका से जाकर कहता —"नहीं—मैंने अपराध किया है। सेनापति बन्धुल के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था—इसलिए उनकी हत्या का पाप मुझे भी लगता है।" युद्ध में पराजय होने पर, पापाचरण की अनुभूति अधिक तीव्र हो जाती है। अपने कपटाचरण के प्रतिकार स्वरूप मल्लिका का निश्छल एवं क्षमापूर्ण व्यवहार तो प्रसेनजित् को लज्जा और आत्मग्लानि के अगाध कुण्ड में डाल देता है। वह अपने कुकर्म का प्रायश्चित्त करने मल्लिका की शरण में बड़े अधीर भाव से जाता है। प्रसेनजित् मल्लिका के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है—"देवि मैं स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बन्धुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है। और आपने क्षमा करके मुझे कठोर दण्ड दिया है, हृदय में इसकी बड़ी ज्वाला है। देवि! एक अभिशाप भी दे दो, जिससे नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पावे।" पापपूर्ण हृदय सदैव शङ्काकुल रहता है। बारम्बार क्षमा माँगने पर भी हृदय को सन्तोष नहीं होता। जीवन में अन्य प्रसङ्गों में भी उसका स्वल्प संकेत पापी हृदय को कँपा देता है। प्रसेनजित् के हृदय की यही दशा है। कोशल की राजसभा में मल्लिका के मुँह से यह निकलते ही—"मैं आज अपना सब बदला चुकाना चाहती हूँ मेरा भी कुछ अभियोग है"—प्रसेनजित् का हृदय काँप जाता है। वह अधीर भाव से कहता है—'वह बड़ा भयानक है! देवि, उसे तो आप क्षमा कर चुकी हैं, अब।' प्रसेनजित् के उक्त कथन में भी उसकी मानसिक दुर्बलता व्यक्त होती है। वह अपने पापों को एकान्त में मल्लिका के समक्ष स्वीकार कर उससे क्षमा तो माँग लेता है, किन्तु राजसभा के मध्य सार्वजनिक रूप से, उसकी कहानी सुनने से भागना चाहता है।

प्रसेनजित् में सत्ता का घमण्ड एवं अभिजात कुल का दम्भपूर्ण दर्प

है। इसी की प्रेरणा से वह अपनी परिणीता भार्य्या का परित्याग करता है तथा औरस पुत्र को अधिकारच्युत करता है। परन्तु आत्म-अपराध के निविड़तम अन्धकार में उसका अहंभाव और दर्प भी विलीन हो जाते हैं। वह अपना स्वत्व खोकर मल्लिका और गौतम के आदेशानुसार परित्यक्ता पत्नी और पुत्र को पुनः स्वीकार करने को बाध्य होता है।

प्रसेनजित अपनी सहोदरा वासवी के प्रति सच्चे हृदय से अनुराग एवं सहानुभूति रखता है। वह अजात की अनधिकारपूर्ण चेष्टाओं का समाचार सुनकर आत्मप्रेरणा से अपनी बहिन और बहनोई के निर्वाह के लिए काशी का राजस्व उन्हें प्रदान करने की आज्ञा देता है। वह वासवी के अनुरोध से अजात को तत्काल कारागृह से मुक्त करता है और अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजात से कर देता है।

विरुद्धक

विरुद्धक कोशल का राजकुमार है। उसका पिता प्रसेनजित उग्र एवं क्रोधी स्वभाव का है। विरुद्धक की माता शक्तिमती दासी पुत्री है। अत: वह युवराज पद से वंचित कर दिया जाता है। विरुद्धक निर्भीक, साहसी, कुटिल एवं कार्य्यकुशल है। वह अपने पिता के दुर्व्यवहार से पीड़ित होकर विद्रोही बन जाता है।

विरुद्धक के राष्ट्रद्रोह के मूल में उसकी माता की प्रेरणा भी है। विरुद्धक अपने पिता की प्रतारणाओं से उत्तेजित हो विद्रोह करने का विचार करता है। किन्तु साथ ही वंचित प्रणय की पीड़ा उसे उत्साहहीन कर देती है। वह अपनी स्वगतोक्ति में इसी बात को व्यक्त करता है-- "घोर अपमान! अनादर की पराकाष्ठा और तिरस्कार का भैरवनाद!" यह असहनीय है। धिक्कारपूर्ण कोशलदेश की सीमा कभी की मेरी आँखों से दूर हो जाती, किन्तु मेरे जीवन का विकाससूत्र एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बँध गया है।....." शक्तिमती विरुद्धक को इसी मानसिक दुर्बलता के गर्त से निकाल कर 'महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि-कुण्ड में कूदने को प्रस्तुत' करती है। उसकी जीवन-दिशा यहीं परिवर्तित होती है।

'धिक्कारपूर्ण कोशल की सीमा' से निकल कर विरुद्धक साहसिक हो जाता है। वह अपनी प्रचण्ड शक्तियों के विकास से साम्राज्य में आतङ्क छा देता है। वह शैलेन्द्र नामधारी डाकू बन कर उचितानुचित का विचार छोड़ देता है। हत्या और लूट द्वारा वह शक्ति संग्रह करता है। कोशलनरेश प्रसेनजित् स्वयं उसकी शक्ति एवं पराक्रम से प्रभावित होकर अपने सेनापति बन्धुल की हत्या कराने के लिए उसका आश्रय लेते

हैं। विरुद्धक चाणक्य की भाँति अपनी कार्य्यसिद्धि देखता है साधन चाहे कैसे ही हों। वह अपनी प्रगति के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध नहीं सहन कर सकता चाहे वह—कोमल हो या कठोर। बन्धुल की वह छलपूर्वक हत्या करता है। श्यामा को अपने 'भावी कार्यक्रम में विघ्नस्वरूप' पहचान कर ही उसकी हत्या करता है। वह अजात के पास एकाकी पहुँच कर कुशलतापूर्वक उसका विश्वासपात्र बनता है। पर्य्याप्त साधनों के अभाव से, तथा सहयोगी अजातशत्रु की दुर्बलता के कारण ही वह लक्ष्यप्राप्ति नहीं कर पाता। अन्यथा पराक्रम, साहस निर्भीकता और कुशलता उसमें ये ऐसी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा वह महत्वपूर्ण पद को प्राप्त करने में समर्थ है।

विरुद्धक में आत्मसम्मान की भावना बड़ी प्रबल है। आत्मगौरव को धक्का लगने पर ही वह अपने पिता का राज्य त्याग देता है। स्वावलम्ब के अभाव में आत्मसम्मान की यथेष्ट रक्षा नहीं हो सकती। विरुद्धक आत्मनिर्भरता के आधार पर ही बन्धुल के प्रलोभन ठुकरा देता है। "मित्र! बन्धुल! मैं तो तिरस्कृत राज-सन्तान हूँ। फिर अपमान सहकर, चाहे वह पिता का सिंहासन क्यों न हो, मुझे रुचिकर नहीं।" × × × × "मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे तो अधिकार चाहिए, स्वत्व चाहिए।" × × "मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। मृगया करूँगा क्षत्रिय कुमार हूँ, चिन्ता क्या है।" उसके इन कथनों से स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता पूर्णतया प्रकट होती है।

विरुद्धक के चरित्र पर राष्ट्रद्रोह कुटिलता, विश्वासघात और क्रूरता के आरोप लगाए जाते हैं। राष्ट्रद्रोह, वह परिस्थितियों की प्रेरणा से करता है। नाटककार ने इसका परिहार बड़ी सुन्दरता से मल्लिका द्वारा कराया है—"राजन्, विद्रोही बनाने का कारण भी आप ही हैं। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिन्तक हो सकता था।" बन्धुल और श्यामा के प्रति विश्वासघात भी वह परिस्थितियों की प्रेरणा

से ही करता है। बन्धुल के व्यक्तित्व से उसे मोह है। तभी तो वह निर्भीकतापूर्वक उससे एकान्त मे मिलकर उसे कोशल नरेश की दुर्नीति समझाने की चेष्टा करता है। बन्धुल जब उसकी बातों को नही मानता तो विरुद्धक को उसे अपने मार्ग से हटाना श्रेयस्कर प्रतीत होता है। तत्कालीन संस्कृति एव युद्ध-नियमों के अनुसार किसी की छलपूर्वक हत्या करना भले ही दोष हो पर साहसिक होने के नाते उसने बन्धुल के वध के लिए जिस उपाय का भी अवलम्बन किया उसके लिए उसके साहस और कौशल की सराहना की जायगी।

विरुद्धक मे अन्य विशेषताओं के होते हुए भी उसका प्रणय चित्र बहुत ही मलिन और दोषपूर्ण है। उसमें नारी हृदय को पहिचानने की क्षमता नहीं है। वह जीवन के प्रभातकाल में मल्लिका को अपना हृदय देता है। मल्लिका का उसकी ओर उस समय कैसा भाव था यह नाटक से ज्ञात नहीं होता। अत उसका प्रथम प्रेम एकाङ्गी है। प्रसेनजित् की इच्छा से मल्लिका का विवाह विरुद्धक से न होकर बन्धुल से होता है। विरुद्धक इसे ही अपने जीवन की भारी पराजय मान कर हताश हो बैठता है। आगे चल कर वह बन्धुल की छलपूर्वक हत्या करते समय यह जरा देर के लिए भी नहीं सोचता कि मल्लिका, जिसे वह कभी हृदय से प्यार करता था, उसके इस कार्य्य से कितना मर्माहत होगी। सच्चे प्रेम के नाते उसे मल्लिका के हृदय की रक्षा करनी चाहिये थी। उदयन के हाथों घायल होने पर मल्लिका जब उसे अपनी कुटी में लाती है और सुश्रूषा द्वारा उसे स्वस्थ करती है तब भी वह वासनामय मलिन दृष्टि से ही उसके सेवाकार्यों को परख करता है। श्यामा के प्रति वह जो जघन्य अपराध करता है वह प्रणय-क्षेत्र मे अक्षम्य है तथा उसके चरित्र पर महान कलङ्करूप है। कभी तो वह उसके सौन्दर्य में मग्न होकर 'कहता है—श्यामा! तुम्हारे सौन्दर्य ने तो मुझे भुला दिया है कि मैं डाकू था।' उसके साथ विश्वासघात न करने के लिए वह सिद्धान्त की

दुहाई देता है—'विश्वास करने वाले के साथ डाकू ऐसा नहीं करते, उनका भी एक सिद्धान्त होता है।' किन्तु दूसरे ही क्षण वह उसका धन अपहृत कर गला घोंट देता है। विरुद्धक की श्यामा के प्रति यह धारणा कि 'विश्वास के बल पर ही इसने (श्यामा ने) समुद्रदत्त के प्राण लिये, यह नागिन है, पलटने देर नहीं" बड़ी ही पोच और विवेक-शून्य है। समुद्रदत्त के प्राण, श्यामा ने, विरुद्धक को मृत्यु-दण्ड से बचाने के लिए लिवाए। उसमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। विरुद्धक उसके इसी कार्य्य को उसकी हत्या का व्याज बनाता है। यह उसकी कोरी हृदय हीनता है। श्यामा उसे डाकू जान कर ही उससे प्रेम करती है। किन्तु वह उसके प्रेम का प्रतिदान करने के स्थान पर उसे वेश्या समझ कर उसके साथ क्रूरतापूर्ण विश्वासघात करता है। विरुद्धक को, क्षमा माँगने पर मल्लिका देवी की सहायता से, पिता का स्नेह, युव-राज पद और राजकीय सम्मान पुन प्राप्त होते हैं किन्तु अपने कर्मों से खोया हुआ प्रणय अधिकार उसे नहीं प्राप्त होता। यह उपयुक्त साहित्यिक न्याय है।

उदयन

कौशाम्बी-नरेश उदयन का चरित्र, घटना और व्यापार की दृष्टि से नाटक के अन्तर्गत बहुत स्वल्प मात्रा मे है। वह सुरा, संगीत और सुन्दरियों के बीच कालयापन करता है। उसमें स्वतंत्र विचार शक्ति का अभाव है और अपने विचारों पर दृढ़ रहने की क्षमता भी कम है। विलासप्रिय व्यक्तियों की प्रकृति में यह दुर्बलता स्वभाविक है।

उदयन मागन्धी के रूप और यौवन पर आसक्त है। वह मागन्धी के प्रभावशाली रूप के चरणों पर अपना ममत्व तक लुटा देता है। मागन्धी के पास आने पर उसका समस्त ज्ञान एवं सद्विचार विलीन हो जाते हैं। मदिरा निषेध पर गौतम के उपदेश से प्रभावित होकर वह उसे न पीने का निश्चय करता है। मागन्धी के समक्ष उदयन अपने इस मनोविचार को व्यक्त भी करता है। परन्तु मागन्धी के प्रेम-पूर्ण अनुरोध से वह अपने इस सत्यसंकल्प का परित्याग कर देता है। मागन्धी जब उससे कहती है—"मैं प्रार्थना करती हू, अपने हृदय को इस हाला से तृप्त कीजिए," उदयन तत्काल उसे स्वीकार करता है--"उठो मागन्धी, उठो! मुझे अपने हाथों से अपना प्रेमपूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी।"

प्रायः कामुक एवं विलासी पुरुषों में विवेक का अभाव रहता है। वे सद् एवं असद् तथा शत्रु और मित्र में भेद नहीं कर पाते हैं। मागन्धी कुटिल कौशल द्वारा पद्मावती के विरुद्ध उदयन को उत्तेजित करती है। हस्तिस्कंध वीणा के अम्बर से निकले साँप के बच्चे को देख कर, मागन्धी के कथनानुसार, वह यह विश्वास कर लेता है कि पद्मावती

ने उसके प्राण लेने का षड्यन्त्र किया। वह पद्मावती के प्राणों का शत्रु बन जाता है और उसके प्रत्येक कार्य्य को सन्देह की दृष्टि से देखता है। पद्मावती को झरोखे से गौतम की वन्दना करते देख उदयन समझता है कि गौतम के प्रति पद्मा का वासनामय प्रेम है—"पापीयसी, देख ले यह तेरे, हृदय का विष–तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिए न यह नया झरोखा बना है।" वह उत्तेजित होकर उसकी हत्या करना चाहता है। 'सती का तेज और सत्य का शासन' विजयी होता है। खड्गयुक्त हस्त ऊपर उठकर रह जाता है, नीचे आता ही नहीं, मागन्धी के षड्यन्त्र का रहस्य भी खुल जाता है। उदयन को अपनी भूल ज्ञात हो जाती है। वह पद्मावती के सामने घुटने टेक कर अपने अपराधों की क्षमा मांगता है।

नाटक में उदयन का पराक्रमपूर्ण व्यापार प्रदर्शित नहीं है। उसकी अन्य पात्रों द्वारा संक्षिप्त सूचना मात्र है। वह कोशल के साथ मिलकर मगध पर आक्रमण करता है और युद्ध में विरुद्धक को घायल करता है।

उदयन का चरित्र नाटक की प्रधान कथावस्तु से विशेष सम्बन्धित नहीं है। इसी से सम्भवतः उसका विस्तार कम है। उदयन और प्रसेनजित् के चरित्र प्रकारान्तर से बिम्बसार के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। उदयन भावुक और विलासी है। प्रसेनजित क्रोधी और ईर्षालु है। दोनों ही अपनी दूषित चित्तवृत्तियों के प्रभाव से अपने हृदय की शान्ति खो देते हैं और पराभाव प्राप्त करते हैं। उदयन पद्मावती के सामने घुटने टेकता है और प्रसेनजित मल्लिका के समक्ष अनेक बार गिड़गिड़ाता है। बिम्बसार अपने आश्रम-धर्म के अनुसार विरक्त एवं विवेकयुक्त है। अतः उसे अपने किसी कर्म के लिए आत्मग्लानि और लज्जा नहीं अनुभव करनी पड़ती है। वरन् बिम्बसार से द्वेष करने वाले—उसके स्त्री और पुत्र—ही उसके सामने घुटने टेक कर क्षमा माँगते हैं। 'प्रसाद' ने उदयन, प्रसेनजित् और बिम्बसार के व्यक्तित्व में

क्रमश: काम, क्रोध और विवेकयुक्त वैराग्य के भावों का मानो साकार रूप प्रदान किया है। साथ ही आदर्श की दृष्टि से बिम्बसार के व्यक्तित्व की महत्ता प्रकट कर उन्होंने काम और क्रोध के विरोध में विवेक-पूर्ण वैराग्य मनोवृत्ति की गौरवपूर्ण एवं सजीव झाँकी प्रस्तुत की है। नाटककार अपने इस प्रयास में पूर्ण सफल है।

—※—

गौतम

गौतम 'अजातशत्रु' नाटक में महात्मा पात्र हैं। वे नाटकीय आदर्श करुणा, अहिंसा एवं विश्वमैत्री के साकार रूप हैं। अपनी शीतल एवं मधुर वाणी से, तथा पवित्र और मनोहर आचरणों द्वारा वे उक्त आदर्शों का सर्वत्र प्रचार करते हैं।

गौतम का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनका समादर सर्वत्र होता है। वे देश के कोने कोने में घूम घूम कर आन्तरिक अव्यवस्थाओं को दूर करने का सतत प्रयत्न करते हैं। वे विश्व में तटस्थ भाव से विचरण करते हैं, किन्तु सांसारिक झगड़ों में, न्याय का पक्ष विजयी हो और समस्त सदाचारों की नींव संसार में स्थापित हो, इसी शुभेच्छा से प्रेरित होकर, वे उसमें भाग लेते हैं। गौतम मगध में बिम्बसार और अजातशत्रु के बीच सम्भावित संघर्ष को रोकते हैं; कोशल में वे प्रसेनजित् को सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। प्रसेनजित् गौतम के प्रभाव से अपनी परित्यक्ता पत्नी शक्तिमती और विद्रोही पुत्र विरुद्धक को पुनः स्वीकार करता है। विरुद्धक राष्ट्रद्रोही से राष्ट्र का सच्चा शुभचिन्तक बन जाता है। कौशाम्बी में उदयन आदि को सदुपदेश देकर वे उनकी तामसतामयी प्रवृत्तियों को दूर करते हैं।

गौतम के उपदेश हृदयग्राही हैं। वे जो बात कहते हैं वह अवसर के अनुकूल होती है। उनके उपदेशों में प्रतिपादन सिद्धान्त दार्शनिक होते हुए भी व्यावहारिक होते हैं। बिम्बसार छलना के कुटिल व्यवहार से क्षुब्ध होकर उससे व्यङ्ग भाव से कहते हैं—"हाँ छलने! तुम जा सकती हो। किन्तु कुणीक को न ले जाना—क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है।"

गौतम बिम्बसार की इसी बात को लेकर उसे विश्वमैत्री का मार्ग दिखाते हैं—"शीतल वाणी—मधुर व्यवहार से क्या वन्य पशु भी वश मे नहीं हो जाते ? राजन् संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग है। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहिली सीढ़ी है।"

गौतम कोरे उपदेशक मात्र नहीं हैं। समाज में उनकी प्रभविष्णुता उनके व्यक्तिगत आचरणों द्वारा है। वे 'शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म' करने के समर्थक हैं और अपने व्यक्तिगत आचरणों द्वारा उसे चरितार्थ करते हैं। मागन्धी गौतम को अपने विलास-पाश में आबद्ध करना चाहती है। इसमे असफल होने पर वह कौशाम्बी मे उनके विरुद्ध षड्यन्त्र करती है। किन्तु जब उसी मागन्धी का विरुद्धक गला घोट कर उसे मृतप्राय दशा में छोड़ जाता है, तब गौतम, उसकी शुश्रूषा कर पुनः जीवित करते हैं। देवदत्त गौतम से, आजीवन शत्रुता का व्यवहार करता रहता है। मगध में उनके प्रभाव को रोकने के लिए वह अनेक षड्यन्त्र करता है। अन्ततोगत्वा वह गौतम का प्राण लेने को उद्यत होता है। भिक्षुओं ने तथागत से कहा—'देवदत्त आपका प्राण लेने आ रहा है, उसे रोकना चाहिए।' गौतम अविचलित भाव से उत्तर देते हैं—"घबराओ नहीं, देवदत्त मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। वह स्वयं मेरे पास नहीं आ सकता, उसमें इतनी शक्ति नहीं क्योंकि उसमें द्वेष है।' वास्तव में गौतम के आत्मबल के सम्मुख देवदत्त का पशुबल पराजित होता है। देवदत्त मार्ग में ही ग्राहग्रहीत हो काल कवलित होता है।

गौतम का प्रभाव व्यापक है। राजा और रङ्क, स्त्री और पुरुष—सभी उनके परदुःखकातरता—प्रेरित अपूर्व राज्य-त्याग, एवं आकर्षक व्यक्तित्व से, प्रभावित हैं। उनका 'शान्त मुखमण्डल स्निग्ध गम्भीर दृष्टि' सभी को अपनी ओर आकर्षित करती है। बिम्बसार, उदयन, प्रसेनजित् सदृश नरेश उनकी पाद वन्दना करते हैं और उनके उपदेश-पूर्ण

आदेशों को ग्रहण कर अपना जीवन-मार्ग निर्धारित करते हैं। गौतम के विरोधी भी अपना विरोध भाव भूल कर उनकी शरण में आते हैं और उनका उपदेश ग्रहण कर अपना जीवन सफल करते हैं। अजातशत्रु, सुजना, मागन्धी, शक्तिमती, विस्थक आदि गौतम की शीतल वाणी और शान्तिमय व्यवहारों से उनके प्रति अपना द्वेषभाव भूल जाते हैं। गौतम के मूल सिद्धान्त अहिंसा, करुणा और विश्वमैत्री सार्वभौमिक हैं। वह इन्हीं सिद्धान्तों का उपदेश और आचरण करते हुए यथार्थ रूप में सच्चे महात्मा हैं।

—(•)—

देवदत्त

देवदत्त 'अजातशत्रु' नाटक का खल पात्र है। वह गौतम का विरोधी है। देवदत्त गौतम के प्रति विरोध भाव से ही प्रेरित होकर राजनीति में भाग लेता है। वह अत्यन्त कुटिल और कुचक्री है, साथ ही वह अपनी कार्यसिद्धि के लिए बड़ा व्यवहार कुशल भी है। वह छलना और अजातशत्रु के हृदय में बिम्बसार और वासवी के प्रति द्वेष और द्रोह की सृष्टि करता है और मगध के राज परिवार में आन्तरिक कलह की ज्वाला प्रज्वलित करता है। वह आत्मकौशल से मगध-परिषद् की प्रधानता ग्रहण करता है और वासवी और बिम्बसार पर प्रतिबन्ध बढ़ाने वाले प्रस्ताव को स्वीकार करा लेता है। देवदत्त का कार्यक्षेत्र प्रधानतः मगध है। वह महत्वाकांक्षी भी है।

देवदत्त बौद्धसंघ में सम्मिलित होते हुए भी गौतम से विरोध-वश उसमें प्रथक् हो जाता है। गौतम से उसका विरोध धार्मिक क्षेत्र में नहीं है। वह उनकी प्रभविष्णुता से द्वेष करता है, और अपनी महत्वाकांक्षावश वह स्वयं समस्त जम्बू द्वीप का, धर्मगुरु के रूप में शासक बनना चाहता है। द्वेषवश वह गौतम की प्रशंसा कभी नहीं सुन सकता है। अजातशत्रु की राज्य प्राप्ति के विषय में समुद्रदत्त उससे कहता है—'गौतम यदि न चाहते तो यह काम सरलता से न हो सकता।' देवदत्त तत्काल इसका प्रतिकार करता है "फिर उसी ढकोसले वाले ढोंगी की प्रशंसा! अरे समुद्र, यदि मैं इसकी चेष्टा न करता तो यह सब कुछ न होता।" देवदत्त लोकोपकार के आवरण में आत्मोन्नति का अभिलाषी है और उसके लिए वह प्रत्येक वैध एवं अवैध उपाय का आश्रय ग्रहण करता है। अजातशत्रु उसके कार्य-साधन का अस्त्र है। वह उसे

विद्रोह युद्ध और हिंसा आदि के लिए सदैव उत्तेजित करता रहता है। उसका विश्वास है कि अजात को अपनी योजनाओं में शक्तिशाली बना देने से वह उसका सदैव अनुगामी रहेगा और गौतम का प्रभाव मगध पर न पड़ने पाएगा।

हिंसा और क्रूरता आदि का उत्कर्ष क्षणिक होता है। उनके द्वारा शाश्वत सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती। अजातशत्रु केवल एक बार युद्ध में विजयी होता है। बाद में पराजित होकर वह बन्दी हो जाता है। प्रथम युद्ध में विजयी होने पर भी देवी मल्लिका के प्रभाव से अजात में हृदय परिवर्तन हो जाता है अतः वह देवदत्त का उपयुक्त साधन नहीं रह जाता दूसरे युद्ध में अजात के पराजित होने पर उसके द्वारा कार्य्य-साधन की देवदत्त की समस्त अभिलाषाएँ दूर हो जाती हैं। अतः वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से गौतम पर प्रहार कर उनका प्राण लेने को उद्यत होता है। उसके द्वेषभाव का यह चरम स्वरूप है। देवदत्त को इसमें भी असफलता होती है क्योंकि गौतम के पास पहुँचने के पूर्व ही वह सरोवर में डूब कर मर जाता है।

देवदत्त का चरित्र असद्वृत्तियों से आक्रान्त होने के कारण सद्गुण सम्पन्न गौतम के चरित्रोत्कर्ष प्रदर्शन में पूर्ण सहायक है। उसका पापमय चरित्र, गौतम के पुण्यमय चरित्र के लिए कसौटीरूप है। खल वृत्तियों का उदय, उनका विकास एवं तज्जन्य जीवन परिणति देवदत्त के चरित्र में बड़ी स्वाभाविकता से प्रदर्शित है।

—※—

बन्धुल

बन्धुल कोशल का प्रधान सेनापति है। वह अत्यन्त पराक्रमी रणकुशल एवं स्वामिभक्त है। अपने पराक्रम और रणचातुर्य से पावा सरोवर की रक्षा करने वाले पाँच सौ मल्लों को वह अकेले ही निरस्त्र कर पराजित करता है। उसके अधिनायकत्व में कोशल के समस्त विद्रोही पराजित होते हैं और कोशल के सीमान्त पर 'शान्ति स्वयं पहरा' देने लगती है।

बन्धुल वीर होने के साथ ही सरल और स्वामिभक्त है। प्रसेनजित् उसके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उससे ईर्षा करने लगता है। वह उसकी वीरता से आतङ्कित होकर उसे काशी का सामन्त बनाकर भेजता है। बन्धुल को काशी का सामन्त बनाया जाना रुचिकर नहीं है। वह अनुभव करता है कि 'यह सामन्त का आडम्बर पूर्ण पद कपटाचरण की सूचना देता है।' उसे तो 'सरल और सैनिक जीवन ही रुचिकर है' किन्तु 'राजा की आज्ञा' शिरोधार्य कर वह सामन्त पद स्वीकार करता है और अपनी निश्छल स्वामिभक्ति को कभी दूषित नहीं होने देता है।

बन्धुल के शौर्य और स्वामिभक्ति की परीक्षा विरुद्धक के सामने होती है। विरुद्धक उसके सामने आकर कहता है कि काशी का सामन्त बनाकर भेजने में प्रसेनजित् का एक षड्यन्त्र है जिसमें उसका अस्तित्व न रहे। अपने विरुद्ध षड्यन्त्र की इतनी स्पष्ट सूचना पाने पर भी प्रसेनजित् से वह विद्रोह नहीं करता, वरन् वह विद्रोही राजकुमार विरुद्धक को बन्दी बनाने के लिए ललकारता है। वह चाहता तो विरुद्धक को सहयोग देकर प्रसेनजित् को सिंहासन च्युत कर देता। विरुद्धक उसके सहयोग का अभिलाषी भी है। वह कोशल का सिंहासन

हस्तगत करना चाहता है। किन्तु बन्धुल स्वामिभक्ति की प्रेरणा से उसके प्रलोभनों को अस्वीकार कर देता है। विरुद्धक की चेतावनी की उपेक्षा कर वह अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहता है।

बन्धुल के शौर्य का ओजस्वी चित्रण नाटककार ने मल्लिका के द्वारा कराया है। मल्लिका अपने पति के विषय में अपने अनुभव के आधार पर कहती है—"वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचण्ड आघातों को रोकने में असमर्थ है।" युद्ध के प्रति उत्साह और साहस ही वीरता के सच्चे निदर्शन है। पाँच सौ मल्लों से सदैव सुरक्षित पावा के अमृत सरोवर से अपनी प्रियतमा भार्या को अकेले जल पिलाने ले जाना उसके अदम्य उत्साह का परिचायक है। मल्लिका ने यद्यपि शङ्कित भाव से उससे कहा 'दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नहीं पीने पाता है।' बन्धुल तुरन्त उत्साहपूर्ण शब्दों में उसका समाधान करता है—'तभी तो तुम्हें वह जल अच्छी तरह पिला सकूँगा।" बन्धुल के रणोत्साह और साहस का परिचय विरुद्धक के साथ द्वन्द्वयुद्ध में भी मिलता है। शैलेन्द्र नामधारी विरुद्धक बन्धुल को द्वन्द्वयुद्ध के लिए निमन्त्रित करता है। बन्धुल एक सच्चे वीर की भाँति उसे स्वीकार करता है। क्रूर विरुद्धक छलपूर्वक उस पर आघात कर यद्यपि मार डालता है, फिर भी बन्धुल के आघातों से वह बच नहीं पाता। वह भी घायल होकर बन्दी होता है। 'अजातशत्रु' नाटक में सरल, स्वामिभक्त सैनिक के रूप में बन्धुल का सफल चित्रण है।

—❀—

दीर्घकारायण

कोशल—सेनापति बन्धुल का भागिनेय दीर्घकारायण, शूर सैनिक है। उसमें मानवोचित दुर्बलताओं के साथ विवेक भी है। वह प्रसेनजित् से असन्तुष्ट है। प्रसेनजित् ने उसके मातुल बन्धुल से विश्वासघात कर उसका वध कराया है। दीर्घकारायण के हृदय में प्रसेनजित के विरुद्ध प्रतिहिंसा का जागृत होना स्वाभाविक है। वह प्रतिहिंसा की ज्वाला से निरन्तर सन्तप्त रहता है। मल्लिका, शक्तिमती, विरुद्धक आदि अनेक पात्रों के समक्ष वह अपने भावों को व्यक्त करता है। वह मल्लिका के समक्ष बड़े आग्रह से प्रसेनजित से प्रतिशोध लेने का प्रस्ताव रखता है—"इसीलिए मैं तो यही कहूँगा कि इस मरणासन्न घमण्डी और दुर्वृत्त कोशल-नरेश की रक्षा आपको नहीं करनी चाहिए।"

दीर्घकारायण के हृदय में प्रतिहिंसा का भाव प्रबल रूप से होने पर भी, उसमें विवेक है। वह सदुपदेश ग्रहण करता है। मल्लिका के करुणा और विश्वमैत्री मूलक उपदेशों के प्रभाव से उसकी प्रतिहिंसा दब जाती है। शक्तिमती के समक्ष वह अपने इसी मनोभाव को व्यक्त करता है—"देवि! मैं एक दिन में इस कोशल को उलट-पलट देता, छत्र चामर लेकर हठात् विरुद्धक को सिंहासन पर बैठा देता, किन्तु मन के बिगड़ने पर भी मल्लिका देवी का शासन मुझे सुमार्ग से न हटा सका।"

कारायण केवल प्रसेनजित के व्यक्तित्व से असन्तुष्ट है। वह व्यक्तिगत द्वेषभाव से राष्ट्र का अहित करने को तय्यार नहीं है। विरुद्धक पिता से द्रोह करने के साथ ही राष्ट्र से भी द्वेष करता है। वह कारायण को भी उकसाकर अपनी ओर मिलाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। शक्तिमती भी कारायण को अपने राष्ट्रद्रोही पुत्र की सहायता करने के

लिए उत्तेजित और प्रोत्साहित करती है। किन्तु वह राष्ट्रद्रोह में उनका साथ नहीं देता। उसके इस कार्य से उसका विवेकपुष्ट राष्ट्रप्रेम प्रकट होता है; और विरुद्धक के प्रति विश्वासघात करने का आरोप भी उस पर नहीं लगाया जा सकता है। कारायण विरुद्धक के समक्ष जो अपनी सफाई देता है उसमें यही बात व्यंजित होती है—"राजकुमार, मैं आप से क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि आप जिस विद्रोह के लिए मुझे आज्ञा दे गए थे, मैं उसे करने में असमर्थ था—अपने राष्ट्र के विरुद्ध यदि आप अस्त्र ग्रहण न करते तो सम्भवत मैं आपका अनुगामी हो जाता क्योंकि मेरे हृदय में भी प्रतिहिंसा थी। किन्तु वैसा न हो सका। उसमें मेरा अपराध नहीं।"

नाटक में राजकुमारी बाजिरा के प्रति कारायण का प्रणय भाव प्रदर्शित है। कारायण का प्रेम एकांगी है। बाजिरा उसकी ओर आँख उठाकर देखती भी नहीं है। वह बन्दी गृह में बाजिरा को अजात के साथ प्रेमाभिनय करते देखकर क्षुब्ध हो जाता है उससे कहता है—"आह! मेरी समस्त आशाओं पर तुमने पानी फेर दिया ...।" बाजिरा उसे तत्काल उपेक्षापूर्ण उत्तर देती है—"सावधान! कारायण, अपनी जीभ सम्हालो।" इससे स्पष्ट है कि बाजिरा का उसके प्रति आकर्षण नहीं है। इस घटना के बाद केवल एक स्थल पर हम कारायण को अपने प्रेम की असफलता पर पश्चात्ताप करते हुए पाते हैं। वह शक्तिमती से कहता है—"रानी! हम इधर से भी गए और उधर से भी गये। विरुद्धक को भी मुँह दिखाने लायक न रहे और बाजिरा भी न मिली।" बाजिरा के प्रति कारायण का प्रेम सम्भवतः महत्त्वकांक्षा प्रेरित है। वह बाजिरा को हस्तगत कर कोशल के सिंहासन का उत्तराधिकारी बनना चाहता है। ऐसे स्वार्थयुक्त प्रेम का जो परिणाम होना चाहिए वही होता भी है।

दीर्घ कारायण का चरित्र सामान्य कोटि का है। न तो वह सद्गुणों की खान है न वह दुर्वृत्तियों का आवास ही है। सद् और

असद् वृत्तियों का उदय उसके हृदय में परिस्थितियों एवं सहवास के कारण होता है। विरुद्धक और शक्तिमती के समक्ष तो प्रसेनजित् के प्रति उसकी प्रतिहिंसा सजग हो जाती है पर मल्लिका के प्रभाव में आने पर वह शान्त हो जाता है।

वासवी

वासवी के चरित्र में स्त्री-सुलभ कोमलता, स्निग्धता, सहिष्णुता तथा अखण्ड पतिभक्ति प्रदर्शित है। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में अपने पति बिम्बसार के साथ जीवन निर्वाह करती है। उसकी सपत्नी छलना और सपत्नी-पुत्र अजात उसके साथ शत्रुवत् व्यवहार करते हैं। उसके ऊपर प्रतिबन्ध बैठा दिया जाता है। उसे राज्य से आर्थिक सहायता नहीं मिलती। उसकी स्वतन्त्रता सीमित कर दी जाती है। किन्तु वह निरन्तर अनन्य भाव से अपने पति की सेवा में तत्पर रहती है। वासवी अपनी शान्ति और स्निग्ध वाणी द्वारा बिम्बसार के उत्तेजित हृदय को शान्त रखती है; उसके वैराग्ययुक्त विचारों का वह समर्थन कर उन्हें पुष्ट करती रहती है। वह अपने पति की इच्छापूर्ति के लिए अपनी अति प्रिय वस्तु का भी त्याग सहर्ष कर देती है। बिम्बसार की इच्छानुसार वह भिक्षुकों को अपना रत्नजटित स्वर्ण-कङ्कण सहर्ष देती हुई कहती है—"प्रभु ! इन स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर बड़ा रङ्ग रहता है, जिससे मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर तक नहीं देखने पाता।'

वासवी की सहिष्णुता और कोमलता तो अलौकिक है। उसकी सपत्नी छलना पग पग पर उसे अपमानित करती है, उस पर व्यङ्ग वर्षा करती है, तथा वह उसे नाना प्रकार की मानसिक यन्त्रणाएँ पहुँचाती है। किन्तु वासवी पूर्ण निर्विकार हृदय से छलना की कल्याण कामना करती हुई, उसकी सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना करती है। वह छलना के एक भी कटुवचन का कठोर प्रत्युत्तर नहीं देती है। अजात की प्रथम विजय से गर्वोन्नत छलना, अत्यन्त दम्भ-भाव से वासवी पर व्यंग्य वर्षा करती है—

'किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और मन्देश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।' बिम्बसार छलना की इस कठोर उक्ति से अत्यन्त उत्तेजित हो जाता है, किन्तु वासवी अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता का परिचय देती हुई पूर्ण शान्त भाव से यही कहती है—"बहिन! जाओ, सिंहासन पर बैठकर राजकार्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा? और अधिक तुम्हें क्या कहूँ; तुम्हारी बुद्धि!"

सन्तोष और सहिष्णुता के समक्ष महत्त्वाकांक्षा और प्रमाद का पराभव प्रकृति-सिद्ध है। सन्तोष, उदारता, सहिष्णुता आदि मानव के सहज धर्म हैं। अहंकार, मात्सर्य, द्वेष आदि पाशव वृत्तियाँ हैं। मानवता सदैव ही पशुता पर विजयनी हुई है। अतः मानवता के स्वाभाविक गुणों से अलंकृत वासवी के समक्ष पशुवत् प्रमादपूर्ण एवं ईर्षा-त्मक आचरण करने वाली छलना को भी घुटने टेकने पड़ते हैं। हिंसा, कुटिलता और क्रूरता की नींव पर उठाया हुआ छलना के महत्त्व का प्रासाद धराशायी होता है, उसका अजात युद्ध में घायल होकर बन्दी होता है। तब उसकी आँखें खुलती हैं। वह वासवी से अपने पुत्र की भिक्षा माँगती हुई अपने हृदय की दुर्बलताओं को ग्लानियुक्त भाव से स्वीकार करती है—'मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए, इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती।' अजात भी अपनी माता की कुशिक्षा के प्रभाव से वासवी की उपेक्षा और अनादर एक लम्बे समय तक करता रहता है। किन्तु अन्त में उसे वासवी की निश्छल प्रीति की प्रतीति होने पर वह भी उसकी गोद में बैठ कर अपूर्व शीतलता का अनुभव करता है। वासवी के हृदय की सात्त्विक कोमलता, स्नेहभाव आदि परिस्थितिजन्य नहीं है।

वे सुख दुःख, विजय पराजय आदि सभी जीवनदशाओं में समभाव से रहने वाले उसके हृदय के सामान्य धर्म हैं। उसका समस्त जीवन उनसे अनुप्राणित है। वह अजात को प्रसेनजित् के कारावास में एक क्षण के लिए भी बन्दी दशा में नहीं देख सकती है। वह उसे तत्काल ही मुक्त कराती है। छलना जब सच्चे हृदय से पश्चात्ताप प्रकट करती हुई बिम्बसार से अपने दुष्कर्मों के लिए क्षमायाचना करती है तब वासवी कौशल-युक्त कथन से उसे अपना सहयोग देती है। वह बिम्बसार से छलना के लिए क्षमादान की सिफारिश करती हुई कहती है—"आर्य-पुत्र! अब मैंने उसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्व के पद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राज-माता को इतना बड़ा दण्ड कम नहीं है, अब आपको क्षमा करना ही होगा।"

बिम्बसार स्वयं वासवी के अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर चकित होता है। वह कहता है 'वासवी! तुम मानवी हो कि देवी।' वास्तव में वासवी मानवी रूप में देवी है।

छलना

मगध की राजमाता, छलना, अपनी लिच्छिविजातिगत महत्वाकांक्षा, क्रूरता और कुटिलता से जीवन में महत्वपद की अभिलाषिणी है। वह अपने पुत्र अजातशत्रु को कुशिक्षा द्वारा अविनय और क्रूरता के लिए प्रोत्साहित करती है। छलना अपने पति से खुले शब्दों में ललकार कर कहती है—"आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।" वह बिम्बसार से राज्यसत्ता हस्तगत करके ही सन्तुष्ट नहीं होती वरन् वह उनपर और अपनी सपत्नी वासवी पर युद्धकाल में शान्ति-व्यवस्था के नाम पर सैनिक नियन्त्रण प्रतिष्ठित कराती है। मगध-परिवार के अशान्तिमय और क्षोभयुक्त जीवन का मूल कारण छलना है। गौतम और वासवी के कारण ही मगध की राज्यसत्ता बिना रक्तपात के हस्तान्तरित होती है। छलना तो सम्भवतः उसे शस्त्रबल से भी प्राप्त करने की चेष्टा करती।

छलना में स्वाभिमान प्रमाद और प्रतिहिंसक प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में है। उसकी 'धमनियों में लिच्छिव-रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है।' इसी की विडम्बना में वह वासवी का पग-पग पर अपमान करती है। और उन्हें मर्माहत करने के लिए वह उन पर व्यंग्यवर्षा करती है। वासवी का पटरानी होना उसे असह्य है। वह बिम्बसार के इस शान्ति-पूर्ण अनुरोध को भी 'देवी वासवी के लिए थोड़ा सा भी सम्मान कर लेना तुम्हें लघु नहीं बना सकता"—निर्दयतापूर्वक ठुकरा देती है। छलना इतनी ओछी प्रकृति की है कि अपनी दुर्नीति में किंचित सफलता मिलने पर वह अपना गर्व प्रदर्शित करने तथा अपनी प्रतिहिंसा को सन्तुष्ट करने के लिए अकारण ही वासवी के पास जाती है और उसे अपने वाक्शरों

से विद्ध करने का असफल प्रयास करती है। वह अपने को ववंडर जीवित करती हुई बिम्बसार और वासवी के समक्ष उपस्थित होती है। उन्हें वह अपने रणदुर्मद पुत्र अजात की कौशल-विजय का सन्देश गर्वोन्मेषित शब्दों में देती है और इस समाचार को, सामान्य अनुचर के स्थान पर स्वयं ही उपस्थित होकर बतलाने का कारण निर्देश करती हुई कहती है—"किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और सन्देश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।' छलना की इस कटूक्ति में उसके हृदय का समस्त विष सन्निहित है। उसकी कुटिलता, क्षुद्रता, प्रमाद आदि को उसके इस कथन का प्रत्येक शब्द पुकार कर व्यंजित कर रहा है। उसकी अधिकांश उपर्युक्त दुर्वृत्तियाँ रक्त-गुण से प्रभावित होने के कारण संकट काल में भी उसे सहज ही नहीं छोड़ती। वह अपनी दुर्बलताओं में भी सबल होने का मिथ्या स्वांग भरती है। कोशल के साथ द्वितीय युद्ध में अजात पराजित होकर बन्दी होता है। छलना की प्रतिहिंसा पुनः सजग होती है। वह वासवी के सामने जाकर उसे ललकारती है—"वासवी, सावधान! मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ।" वह अपनी दुर्भावनाओं से इतनी अलपज्ञ हो जाती है कि उसे हिताहित का भी ज्ञान नहीं रहता। वासवी स्वयं कोशल जाकर अजात को छुड़ाने का प्रस्ताव करती है। छलना प्रमाद प्रेरित होकर प्रत्युत्तर देती है—"यह और भी अच्छी रही—जो हाथ का है उसे भी जाने दूँ? क्यों वासवी! पद्मावती को पढ़ा रही हो?'

छलना में महत्वाकांक्षा की भावना प्रबलरूप से है। युद्ध के लिए हतोत्साहित और अनिच्छुक अजात से वह कहती है—"बच्चे! मैंने बड़ा भरोसा किया था कि तुम्हें भारतखण्ड का सम्राट् देखूँगी और वीर-प्रसूती होकर एक बार गर्व से तुमसे चरण-वन्दन कराऊँगी।" वह अपनी अदूरदर्शिता से ही हिताहित की पहिचान न कर देवदत्त के इशारों पर

सकती है।

नारी-हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध चलने के कारण छलना अपने उद्देश्यों में असफल होती है। वासवी के शब्दों में—"नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है।" छलना अपने जीवन में इनकी उपेक्षा कर व्यर्थ ही पुरुषार्थ का ढोंग करती है। परिणाम स्वरूप वह पुत्र भी खोती है और पति की भी विद्रोहिनी होती है।

छलना की आँखें अपनी असफलता का प्रत्यक्षीकरण करने पर खुलती हैं। वासवी के निरन्तर शीतल व्यवहार ने उसके रक्त की उष्णता पर विजय पाई। वह रोती हुई वासवी के अञ्चल में मुँह डालकर उससे अपने पुत्र की भीख माँगती है। वासवी की कृपा से ही उसे आत्मबोध होता है जिसमें वह अपने पति के समक्ष अपने दुराचरणों के लिए ग्लानि प्रकट करती हुई क्षमा माँगती है। उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अन्त, अजात को द्वितीय युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने के साथ ही होता है। वासवी के समक्ष उसकी रोषपूर्ण झलक निर्वाणोन्मुख दीपशिखा के अवशिष्ट आलोक की भाँति है। उसके बाद वह वासवी को पूर्णतया आत्मसमर्पण कर धर्म के प्रयास से अपने खोए हुए मातृत्व और पत्नीत्व को पुनः प्राप्त करती है।

मागन्धी (श्यामा)

दरिद्र-कन्या मागन्धी अपने रूप और कौशल से जीवन की सामान्यतम स्थिति से उठकर चरम ऐश्वर्य एवं वैभव को प्राप्त करती है। वासना की अतृप्ति में वह विभिन्न जीवन दशाओं का अतिक्रमण करती हुई पुन: अपनी पूर्व सामान्य दशा को पहुंच जाती है। वासना और वैभव के पंक से निकलने पर ही उसे जीवन की सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त होते हैं। नारी जीवन की इस अनेकरूपता में ही उसके चरित्र का महत्त्व है।

मागन्धी की अकिंचनावस्था में, उसके पास, उसकी एकमात्र सम्पत्ति उसका रूप है। वह सर्व साधारण के आकर्षण की वस्तु है। उसके रूप ने कौशाम्बी नरेश उदयन को उसके चरणों में लुटा दिया। कुटिल कूट-नीतिज्ञ समुद्रदत्त उसके रूप से प्रभावित हो उसका बिना मूल्य का दास बन जाता है और कठोर क्रूरकर्मा विरुद्धक भी उसके सौन्दर्य के प्रभाव से भूल जाता है कि वह डाकू है। मागन्धी के सम्पर्क में आनेवालों में केवल महात्मा गौतम ही उसकी रूपशिखा के शलभ नहीं बनते।

मागन्धी में रूप होने के साथ ही रूप-गर्व भी है। किसी के द्वारा वह इसकी उपेक्षा सहन नहीं कर सकती। गौतम उसके रूप का तिरस्कार करते हैं। रूप-गर्व में मदान्ध मागन्धी की प्रतिशोध भावना गौतम के विरुद्ध भभक उठती है। वह निश्चय करती है—"दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।"

मागन्धी की कूटबुद्धि, वाक्चातुरी और कार्य्य-तत्परता उसे अपने निश्चयों को कार्य रूप में परिणित करने में बड़े सहायक हैं। गौतम के

प्रति प्रतिशोध-भावना तथा दरिद्र कन्या होने के कारण उदयन के महलों में अपमान की यन्त्रणा से प्रताड़ित होकर वह एक ही चोट से गौतम और उदयन दोनों को एक साथ पराभूत करने का कौशलयुक्त षड्यन्त्र करती है। पद्मावती के महल से मँगाई हुई हस्तिस्कंध वीणा से जिस कौशल द्वारा साँप का बच्चा निकलवाकर वह उदयन का हृदय गौतम और पद्मावती की ओर से फेर देती है वह सराहनीय है। इसी प्रकार से विरुद्धक की प्राण-रक्षा में वह कूट-कौशल द्वारा समुद्रदत्त को काशी के दण्डनायक के पास विरुद्धक के स्थान पर उसे सूली पर चढ़ाने के लिए भेज कर अपना अभीष्ट सिद्ध करती है।

मागन्धी में साहस और दृढ़ता है तथा वह परिस्थितियों पर विजय पाने की क्षमता रखती है। कौशाम्बी के महल में सफलता का हाथ से निकलते देख कर वह साहसपूर्वक अग्निकाण्ड प्रस्तुत करती हुई अछूती निकल जाती है। बन्धुल द्वारा विरुद्धक के घायल और बन्दी होने का समाचार प्राप्त कर वह चिन्तित अवश्य होती है पर अधीर नहीं होती, और बड़ी स्वाभाविकता से दण्डनायक का सन्देश सुनकर दासी से कहती है—'अच्छा सुन चुकी। जा शीघ्र सङ्गीत का सम्भार ठीक कर...... ।'

मागन्धी अभीष्ट-सिद्धि में निर्मम भी है। वह आत्मसुख की प्राप्ति के लिए प्रत्येक वैध अथवा अवैध मार्ग का अवलम्बन कर सकती है। आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-सुख की चिर-अभिलाषा अपने हृदय में सञ्चित किए हुए वह कहती है—"मैं उसी श्यामा की तरह हूँ, जो स्वतंत्र है राज-महल की परतन्त्रता से बाहर आई हूँ। × × × फूलों की धूल से अङ्गराग बनाऊँगी, चाहे उसमें कितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़ें! चाहे कितनों ही के प्राण जाँय, मुझे कुछ चिन्ता नहीं। कुम्हलाकर फूलों को कुचल देने में ही मुझे सुख है।" मागन्धी आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-सुख के लिए ही उदयन का महल परित्याग कर काशी की सुप्रसिद्ध वार-विलासिनी श्यामा बन जाती है। उसे न तो उदयन का महल फूँक कर

आने मे घबड़ाहट होती है और न वह समुद्रदत्त को सूली पर चढ़ाने के लिए भेजने में ही हिचकती है।

मागन्धी के प्रथम यौवन आवेग में वासना का ही प्राधान्य है। गौतम और उदयन के प्रति उसका प्रणयभाव वासनामूलक है। वासना तृप्ति के लिए ही वह वारविलासिनी बन जाती है। विरुद्धक का साक्षात्कार होने पर उसके हृदय मे स्थायी प्रणयभाव का उदय होता है। सात्विक प्रणयभाव पूर्ण विश्वास और बलिदान सापेक्ष है। वासना की भाँति वह आत्मतुष्टि में ही सीमित नहीं रहता। वह आलम्बन के प्रति पूर्ण विश्वस्त हो उसके दुख सुख से दुखी और सुखी होता है तथा आलम्बन के लिए सर्वस्व बलिदान की तत्परता रखता है। विरुद्धक के प्रति मागन्धी का प्रणय भाव इसी कोटि का है। वह शैलेन्द्र नाम धारी डाकू विरुद्धक पर पूर्ण विश्वास करके उससे मिलने एकान्त जङ्गल में जाती है। वह शैलेन्द्र से कहती है—"शैलेन्द्र, लो यह अपनी नुकीली कटार, इस तड़पते हुए कलेजे में भोंक दो।" श्यामा की इस उक्ति से उसका निश्छल आत्मसमर्पण अभिव्यक्त होता है।

वह वारविलासिनी होते हुए भी प्रेम करना जानती है। प्रियतम की विपन्नावस्था अवगत कर वह भी अपनी शान्ति और सुख खो देती है। विरुद्धक घायल और बन्दी होता है पर उसके साथ ही मागन्धी की प्रणयलता पर मानो वज्रपात होता है। प्रिय शैलेन्द्र के बचाने की चिन्ता मे वह अपना समस्त ऐश्वर्य सुख भूल जाती है। मागन्धी का प्रणय प्रेमी के वियोग मे मूक कराने वाला नहीं है वरन् वह उसे कठोर कर्त्तव्यों की ओर प्रेरित करता है। वह समुद्रदत्त को चकमा देकर शूली-ग्रह मे विरुद्धक का स्थान ग्रहण करने उसे भेज देती है। यद्यपि विरुद्धक उसके प्रणय की सत्यता को नहीं पहिचानता और एकान्त वनप्रदेश में उसकी हत्या का प्रयास कर उसका सर्वस्व अपहरण करता है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्यामा उसे हृदय मे चाहती है और उसके प्रणय में बधा-

र्थता पूर्ण रूप मे है।

मागन्धी के जीवन में अन्तिम परिवर्तन घटनाओं के घातप्रतिघात और आत्म-निरीक्षण से है। विरुद्धक की निष्ठुरता से उसका प्रताड़ित हृदय, गौतम के सहज करुणाभाव और मल्लिका की अलौकिक क्षमाशीलता से, विश्व के वैभव—सुखों से विरक्त होकर वासना-विहीन हो जाता है और उसमें पुनीत सात्विकता का उदय हो जाता है। मल्लिका उसके सामने ही विरुद्धक से उसे पुनः अपनाने के लिए कहती है किन्तु मागन्धी स्वतः उसे अस्वीकार करती हुई कहती है—"नहीं देवि! अब मैं आपकी सेवा करूंगी, राजसुख मैं बहुत भोग चुकी हूं। अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहासन भी अभीष्ट नहीं है, मैं तो शैलेन्द्र डाकू को चाहती थी।"

मनुष्य, जीवन मे ठोकर खाकर ही, सम्हलता है। वह कुछ खोकर ही सीखता है। मागन्धी ने देखा—'ओह, जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया अपने वैभव पर ठोकर लगा दी, उसका ऐसा आचरण।' इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप प्रतिहिंसा और पश्चात्ताप मे उसका सारा शरीर भस्म होने लगता है। पश्चात्ताप की आँच में तपकर उसका हृदय कंचन की भाँति शुद्ध हो जाता है और आत्म-दृष्टि निर्मल हो जाती है। वह अतीत जीवन की अवास्तविकता को पहिचानती हुई कहती है—'अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी—उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन मे कैसे बनावटी भाव आगए।"

हृदय और बुद्धि के निर्मल हो जाने पर जीवन की वास्तविक शान्ति और महत्व-प्राप्ति अति सरल है। मागन्धी गौतम के वरदहस्त की शीतल छाया, हृदय की विशृङ्खलता और विडम्बना का त्याग करने पर, प्राप्त करती है जिससे उसके प्यासे हृदय की तृष्णा सच्चे रूप में मिट जाती है।

नाटक की प्रधान कथावस्तु से मागन्धी के चरित्र का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। किन्तु सामान्य नारी जीवन में रूप गौरव और वासना की प्रबल इच्छा से जो उतार चढ़ाव आते हैं उनका निदर्शन नाटककार ने उसके चरित्र में बड़ी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है। वासना प्रेरित जीवन की परिवर्तन-शीलता और उसका चरमोत्कर्ष यथार्थ दृष्टि से चित्रित करते हुए आदर्श की ओर उसकी प्रेरणा बड़ी स्वाभाविक रीति से की गई है। नाटककार को मागन्धी के चरित्र निर्वाह में यथेष्ट सफलता मिली है, यह बात निस्सन्देह है।

———

मल्लिका

मल्लिका आदर्श स्त्री-पात्र है। पति-परायणता, स्नेह, करुणा, विश्वमैत्री, उदारता, आतिथ्य-सेवा आदि सभी आदर्श गुण उसके पावन चरित्र में वर्तमान हैं। उसके महिमामय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर क्रूर, कुटिल उद्धत एवं वासना-युक्त वृत्तियों के पात्र कल्मष-विहीन हो मनुष्यत्व प्राप्त करते हैं। उसके समक्ष उद्धत और अभिमानी अजातशत्रु का 'हृदय नम्र होकर आप-ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है।' कुटिल कोशल-नरेश प्रसेनजित् उससे बारम्बार क्षमा माँगकर अपने हृदय को सन्तोष प्रदान करता है, क्रूर-कर्मा विरुद्धक उस 'उदारता की मूर्ति' की कृपा से अपने प्राण बचाने का उपाय प्राप्त करता है। वासनायुक्त मागन्धी मल्लिका की सम्पूर्ण मनुष्यता में काल्पनिक देवत्व का साक्षात्कार कर कृतार्थ होती है।

मल्लिका की पति-परायणता व्यक्तिगत ऐहिक सुखों के विषय वासनायुक्त जीवन के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं है। वह अपने पति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को शृङ्गारमंजूषा में बन्द करके नहीं रखती है। 'महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही (उसका) कर्त्तव्य नहीं है।' वह स्वामी को कठोर कर्म में सोत्साह प्रेरित करती हुई पति परायणता के साथ अपनी लोकहित भावना को भी चरितार्थ करती है। मल्लिका का रति प्रेम पति के बल-वीर्य की अनुभूति से ओतप्रोत है। उसे इसका मिथ्या गर्व नहीं, वरन् सुखद सन्तोष है। 'वह कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक भी ····· नहीं होना चाहती। इसी से शक्तिमती जब उसे कोशलनरेश की कुटिलता अवगत कराकर बंधुल को काशी से वापस बुलाने का परामर्श देती है तो मल्लिका

उसे स्पष्ट शब्दों में कहती है—'रानी ! बस करो। मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा ...।' मल्लिका की इस उक्ति से उसकी असीम राजभक्ति-भावना भी अभिव्यक्त होती है।

मल्लिका के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता अपने घोर अपकारियों के प्रति निरन्तर उपकार भावना है। प्रसेनजित् की कुटिलता तथा विरुद्धक की क्रूरता और विश्वासघात से वह 'सोहाग से वञ्चित' हो जाती है। किन्तु वह विश्वमैत्री के अनुरोध से न तो उनमें से किसी से द्वेष करती है और न उनसे उदासीन ही होती है। वह युद्ध में घायल प्रसेनजित् को अपने आश्रम में लाकर उसकी शुश्रूषा करती है, अजातशत्रु के हाथों से उसे बचाती है तथा विद्रोही-हृदय दीर्घकारायण को राजभक्ति के सत्पथ पर प्रेरित करती है। इसी प्रकार युद्ध में उदयन के हाथों घायल हुए विरुद्धक की चिकित्सा करके उसे स्वस्थ करती है और उसके पिता प्रसेनजित् से उसे उसके अपराधों के लिए क्षमादान दिलाकर पुनः युवराज पद पर अधिष्ठित कराती है।

जिस प्रकार मल्लिका के हृदय में सुदृढ़ रूप से विश्व-मैत्री की भावना है उसी प्रकार वह घोर से घोर संकटकाल में अपना कर्त्तव्य विस्मृत नहीं करती है। पति के आकस्मिक वियोग के कारण 'नारी के हृदय में जो हाहाकार है उसे वह अनुभव करती है। शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं। जी रो उठता है,' तब भी वह कर्त्तव्य नहीं भूलती है। निमन्त्रित सारिपुत्र मौग्द्लायन का आतिथ्य वह पूर्ण प्रकृतिस्थ भाव से करती है। वह आतिथ्य धर्म का पालन यथावत् करती है। सुख और दुःख, तथा शत्रु और मित्र में सर्वत्र समदृष्टि रखना जीवन की बड़ी उच्च और आदर्श स्थिति है। मल्लिका को मनसा वाचा कर्मणा हम इसी

आदर्श स्थिति पर सदैव प्रतिष्ठित पाते हैं। 'स्त्री-सुलभ, सौजन्य और समवेदना, कर्त्तव्य और धैर्य्य की शिक्षा' को वह व्यवहार-क्षेत्र में अपने पुनीत आचरणों द्वारा सार्थकता प्रदान करती है। उसके जीवन की इसी महत्ता से प्रभावित होकर सद्धर्म के सेनापति सारिपुत्र और आनन्द उसकी भूरि भूरि सराहना कर उससे कर्त्तव्य-शिक्षा प्राप्त करते हैं।

मल्लिका के चरित्र में सद्वृत्तियों का चूडान्त निदर्शन है। वह अपने महान् गौरवशाली गुणों की गरिमा से सामान्य लौकिक जीवन के धरातल से बहुत ऊँची उठी प्रतीत होती है। जीवन की ऐसी एकाङ्गी आदर्श स्थिति साधारणतया काव्य-जगत में ही सम्भव है। सामान्य जगत में विरल होने से, वह अतिरञ्जित प्रतीत होता है। किन्तु जिस देशकाल में गौतम जैसे सर्वगुण-सम्पन्न महात्मा की स्थिति का इतिहास साक्षी है उसमें मल्लिका सदृश पावन चरित्रशालिनी नारी की कल्पना भी यथार्थ है। देशकाल की दृष्टि से मल्लिका का चरित्र काल्पनिक होते हुए भी परम स्वाभाविक एवं सजीव है।

शक्तिमती (महामाया)

शक्तिमती, दासीपुत्री होकर भी, अपनी महत्वाकांक्षा एवं कूट-कौशल द्वारा राजरानी पद प्राप्त करती है। उसके हृदय पर स्वाभिमान की गहरी छाप है। उसे महत्व पद से नीचे लाने वाला चाहे उसका पति ही क्यों न हो, उसके प्रति उसकी प्रतिशोध भावना प्रबल रूप से प्रज्वलित हो उठती है। उसका पति प्रसेनजित् उसे पदच्युत कर उसके पुत्र विरुद्धक को भी युवराज पद से अपदस्थ कर देता है। शक्तिमती 'स्त्रियों की सी रोदनशीला प्रकृति लेकर' "भाग्य के भरोसे" नहीं बैठती है। वह अपनी इच्छा शक्ति और पौरुष से महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत होती है। वह अपने पुत्र को उत्तेजित कर उसे कोशल-नरेश के विरुद्ध विद्रोही बना देती है। विरुद्धक उसकी प्रेरणा से ही डाकू बनकर राज्य में अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। शक्तिमती, मल्लिका के हृदय में, राज्य के विरुद्ध द्वेष-भावना जागृत कर उसके राजभक्त परिवार को भी विद्रोही बनाने का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार दीर्घकारायण के हृदय में भी वह प्रतिहिंसक भावना प्रदीप्त करती है। किसी के मनोभावों को पहिचान कर उन्हें उकसाने की उसमें अपूर्व क्षमता है। राजकुमारी वाजिरा की प्राप्ति में असफलता तथा मातुलवध के कारण दीर्घकारायण के हृदय में तीव्र क्षोभ है। शक्तिमती उसके इस मनोभाव को अवगत कर उसे उत्तेजित और आन्दोलित करने के लिए उसके पास जाती है। मल्लिका की गम्भीर सात्विक प्रकृति के कारण शक्तिमती उसे अपनी ओर मिलाने में असफल होती है। दीर्घकारायण की भावनाओं को उत्तेजित कर उसे अपनी ओर उन्मुख तो वह अवश्य कर लेती है किन्तु कारायण पर मल्लिका के व्यक्तित्व का

विशेष प्रभाव होने के कारण उसके द्वारा अभीष्ट सिद्धि में उसे सफलता नहीं मिलती है।

शक्तिमती में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए निष्ठुर सङ्कल्प ही नहीं वरन् तदनुरूप आचरण करने की तत्परता भी है। जब उसका पुत्र विरुद्धक उसके प्रोत्साहन से प्रतिज्ञा करता है—'माँ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त से नहाकर, इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी वन्दना करूँगा।" शक्तिमती उसके सिर पर हाथ फेरती हुई कहती है—

'मेरे बच्चे, ऐसा ही हो।' यह उसकी पाशववृत्ति और बर्बरता का परिचायक है। दीर्घकारायण एक स्थल पर वार्तालाप के प्रसङ्ग में शक्तिमती से पूछता है—'तब क्या करती? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-घोषणा स्वयं सुनाती?' शक्तिमती इसका तत्काल उत्तर देती है—"यदि पुरुष इन कामों को कर सकते हैं तो स्त्रियाँ क्यों न करें?" उसके इस कथन से उसके हृदय की निष्ठुरता प्रकट होती है। उसे यदि अवसर मिलता तो सम्भवत वह अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित भी करता।

असद् भावनाओं और आचरणों का पूर्ण और स्थायी साफल्य, आदर्श की दृष्टि से असम्भव है। शक्तिमती द्वेष और दुर्भावनाओं का प्रचार कर अपनी मनोकामना की पूर्ति चाहती है। उसे क्षणिक और आंशिक सफलता मिलती है। प्रसेनजित् केवल एक बार ही घायल होकर पराजित होता है। किन्तु शीघ्र ही वह अपनी शक्ति सङ्गठित कर अजात और विरुद्धक को पराजित कर महामाया की महत्त्वाकांक्षाओं पर मानों अर्गला लगा देता है। महामाया सिर तोड़ करके भी दीर्घकारायण और मल्लिका को अपनी ओर मिलाकर अन्तर्विद्रोह कराने में सफल नहीं होती। वह हारकर मल्लिका के व्यक्तित्व की महत्ता के आगे सिर झुकाती है और उसकी शरण में आकर खोए हुए पद और सम्मान को प्राप्त करती है।

पद्मावती

पद्मावती सरल बालिका, स्नेहमयी भगिनी और पतिव्रता पत्नी के रूप में नाटक में चित्रित है। पितृ-परिवार में वह भाई अजात की मङ्गल-कामना से प्रेरित हो उसे सन्मार्ग का निर्देश करती है। वह सरल एवं स्नेहमय उपालम्भ द्वारा बिम्बसार के मुर्झाए मन को मुकुलित करती है। वह लाड़ भरे शब्दों में बिम्बसार से कहती है—"पिता जी, मुझे बहुत दिनों से आपने कुछ नहीं दिया है, पौत्र होने के उपलक्ष में तो मुझे कुछ अभी दीजिए, नहीं तो मैं उपद्रव मचाकर इस कुटी को खोद डालूँगी।" आकुल हृदया माता को आश्वासनयुक्त सन्देश भेजकर उसकी चिन्ता निवारण का उपाय करती है। वह मगध परिवार की आदर्श बालिका है।

पद्मावती में सहिष्णुता और गंभीरता, स्त्री-सुलभ सौजन्य के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है। उसका भाई अजात कोमलता और सद्कर्म शिक्षा की अवहेलना करता है। छलना भी पद्मावती की आलोचना करती है और गृह-विद्रोह की आग लगाने का अभियोग उस पर लगाती है। किन्तु पद्मा उक्त अभियोग का प्रतिकार कटुता पूर्वक नहीं करती, वरन् स्वयं पितृ-गृह को त्याग कर वह अपने पति के यहाँ चली जाती है। व्यक्तिगत अपमान के विरुद्ध उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना नहीं जाग्रत होती।

पतिव्रता स्त्री, पति के अकारण रुष्ट हो जाने पर भी उसका अमङ्गल नहीं चाहती। वह स्वामी की प्रत्येक इच्छा के आगे सविनय मस्तक झुका देती है। पद्मावती की पति-निष्ठा इसी प्रकार की है। मागन्धी के षड्यन्त्र के कारण उदयन पद्मावती पर अकारण सन्देह करने लगता

है और उससे असन्तुष्ट हो जाता है। पद्मावती को स्वामी का असन्तोष सह्य नहीं है। वह अपनी मानसिक दशा का परिचय देती हुई कहती है—"स्वामी मुझसे असन्तुष्ट हैं। भला यह वेदना मुझसे कैसे सही जायगी। कई बार दासी गई; किन्तु वहाँ तेवर ही ऐसे हैं कि किसी को अनुनय-विनय करने का साहस ही नहीं होता। फिर भी कोई चिन्ता नहीं, राज-भक्त प्रजा को विद्रोही होने का भय ही क्यों हो।" पद्मावती के हृदय की निश्छलता ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। उसी की अभय छाया में वह सन्तोष और विश्रान्ति का अनुभव करती है।

उदयन, पद्मावती को खिड़की से करुणानिधान गौतम का दर्शन करते हुए देखकर, उस पर पापाचरण का आरोप करता है। उसका शंकाकुल हृदय उत्तेजित हो जाता है और वह पद्मावती की हत्या के लिए खड्ग प्रहार करने को प्रस्तुत हो जाता है। पद्मावती अत्यन्त शान्त भाव से अपने हृदय की विशुद्धता की घोषणा करती हुई स्वामी के समक्ष अति विनीत भाव से आत्मसमर्पण करती है। वह कहती है—"प्रभु ! स्वामी ! क्षमा हो ! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं है, किन्तु अमृत है × × × उन बुद्ध को मांस पिंडों की कभी आवश्यकता नहीं।" वह स्वामी को तलवार निकाले हुए देखकर भयभीत नहीं होती प्रत्युत अपने हृदय की निर्मलता को व्यक्त करती हुई वह उसके समक्ष नतमस्तक होती है। सती के तेज और सत्य के शासन के समक्ष उदयन की पशुता मूक हो जाती है। उसका खड्गयुक्त हाथ उठता ही नहीं। पति की इच्छापूर्ति में ही पद्मावती को सच्चा आत्म-संतोष है चाहे उसके पति की इच्छा उसी की हत्या करने ही की क्यों न हो। अतः वह 'नसें चढ़ गई होंगी' कहती हुई अपनी बलि के लिए प्रस्तुत खड्गयुक्त हाथ को सीधा करती है। पद्मावती का यह कार्य्य उसके उत्कृष्ट आत्म-त्याग और पति-परायणता का परिचायक है। उदयन को भी अपनी भूल विदित होने पर उसके आगे घुटने टेकने पड़ते हैं।

पद्मावती गौतम के करुणामय उपदेशों से प्रभावित है। वह उनके उपदेश भक्तिपूर्वक सुनती है और उनके अप्रतिम व्यक्तित्व की विशुद्ध हृदय से उपासना करती है। किन्तु उदयन को छोड़कर नाटक का कोई पात्र उसके व्यक्तित्व के सीधे सम्पर्क से प्रभावित हो अपनी जीवन दिशा नहीं बदलता है। वह मल्लिका की भाँति विश्वमैत्री और करुणा के उपदेशों और आचरणों द्वारा असद्वृत्ति के पात्रों को सद्वृत्तियों की ओर प्रेरित नहीं करती है इसका कारण सम्भवतः राजमहलों में उसका वधू-जीवन है। वह सर्वसाधारण के सम्पर्क से परे है। वस्तुत नाटककार ने उसके चरित्र में सहिष्णुता, कोमलता, पतिपरायणता आदि प्रदर्शित कर उसके व्यक्तित्व को परम श्रद्धास्पद बना दिया है।

जीवक और बसंतक

जीवक मगध का राजवैद्य और बसन्तक कौशाम्बी नरेश उदयन की राजसभा का विदूषक है। जीवक गम्भीर स्वामिभक्त सेवक है। वह 'उच्छृङ्खल नवीन राजशक्ति का विरोधी होकर' अपने स्वामी बिम्बसार की सेवा मे जाता है। वह सच्चे हृदय से ही बिम्बसार से कहता है—'यह जीवन अब आपही की सेवा के लिए उत्सर्ग है।' जीवक की इस त्यागमय तत्परता के मूल मे स्वामी के मंगल की सच्ची भावना है। समुद्रदत्त और देवदत्त की दुर्नीति और कूटचालों को वह समझता है। देवदत्त को, दुर्नीति के लिए वह भरपेट निर्भयता पूर्वक फटकार भी चुका है। यथा—"संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है, उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं।" × × × तुम लोगों की यह कूट मन्त्रणा अच्छी तरह समझ रहा हूँ। इसका परिणाम कदापि अच्छा नहीं। सावधान, मगध का अधःपतन दूर नहीं है।" अस्तु जीवक परिस्थितियों की पर्याप्त जानकारी के बाद दृढ़ निश्चय के साथ स्वामी के लिए कल्याण-कार्य्य में प्रवृत्त होता है।

जीवक का प्रधान कार्य्य सन्देशवाहक का है। वह मगध के समाचार कौशाम्बी और कोशल पहुंचाता है और इन स्थानों के समाचार बिम्बसार को देता है। कौशाम्बी की प्रथम यात्रा में तो वह वहाँ की जटिल परिस्थिति के कारण अपनी बात अच्छी तरह से किसी से कहने का अवसर ही नहीं पाता। वह स्वयं चकित हो जाता है। उदयन उसकी बात सुनकर अनसुनी कर जाते हैं। अन्त में बसन्तक ही उसकी शङ्का का समाधान करता है। वह वासवदत्ता का सन्देशा जीवक को देता है—"आर्य्यपुत्र की अवस्था आप देख रहे हैं, उनके व्यवहार पर ध्यान न

दीजिएगा। पद्मावती मेरी सहोदरा है, उसकी ओर से आप निश्चिन्त रहें।"

जीवक को इस प्रथम यात्रा-प्रसंग में कोशल में विशेष सफलता मिलती है। प्रसेनजित् जीवक से मगध का समाचार प्राप्त कर बिम्बसार और वासवी की जीविका निर्वाह के लिए काशी का राजस्व उन्हीं को देने का आदेश देता है। जिस प्रकार जीवक मगध के समाचार कोशल और कौशाम्बी में बिना किसी अतिशयोक्ति के कहता है उसी प्रकार वह कोशल और कौशाम्बी की परिस्थितियों की सूचना भी बिना किसी दुराव या छिपाव के बिम्बसार को देता है। पद्मावती का संकट, विरुद्धक का विद्रोह, बन्धुल की हत्या, अजात का आक्रमण और प्रसेनजित की पराजय आदि के समाचार वह अपने स्वामी से बिना ननुनच के बतला देता है। इसमें उसका उद्देश्य स्वामी को परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान करा देना है। जीवक कौशाम्बी की अपनी द्वितीय यात्रा में मगध पर कोशल और कौशाम्बी के सम्मिलित आक्रमण का रहस्य अवगत करता है।

राजदूत का कार्य अत्यन्त उत्तरदायित्व का है। उसे परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर उसी के अनुसार व्यवहार करना पड़ता है तथा सम्वाद के आदान-प्रदान में उसे अत्यन्त संयम, तत्पर बुद्धि और वाक्पटुता का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे उसका अभीष्ट सिद्ध हो और स्वामी का अनिष्ट न हो। जीवक में दूतत्व के ये सब गुण वर्तमान हैं। कौशाम्बी की जटिल परिस्थिति का अनुभव कर वह अत्यन्त संयम से काम लेता है। कोशल में वह अपनी एक संक्षिप्त उक्ति में ही अपने स्वामी की दुरवस्था का चित्र खींच कर अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए अनुकूल वातावरण पूर्णतया प्रस्तुत कर लेता है—'दयालुदेव, कोई नया समाचार नहीं है। अपमान की यन्त्रणा ही महादेवी वासवी को दुःखित कर रही है, और कुछ नहीं।' जीवक के इस कथन के सुनते ही प्रसेनजित् उसका मनोरथ पूरा कर देता है। यही है उसके दूतत्व की सफलता।

जीवक की भाँति वसन्तक भी राज सहचर है। किन्तु दोनों की

प्रकृति में बड़ा अन्तर है। प्रथम जितना ही गम्भीर है दूसरा उतना ही हंसोड़ है। एक स्वामी के कार्य्य-साधन के लिए देश-विदेश की धूल छानता फिरता है तो दूसरा घर बैठे ही अपने स्वामी की आलोचना करता है और उसकी हँसी उड़ाता है। वसन्तक जीवक से कहता है—"सुनो जी, मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और मिथ्या विहार से बुद्धि का। × × × "महराज ने एक नई दरिद्र कन्या से ब्याह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का अजीर्ण होगया है।"

राज-सहचर और विदूषक होने के कारण वसन्तक का प्रवेश अन्तः-पुर में भी है। अतः वह अन्तःपुर के सन्देशे बाहर पहुँचाने में बड़ा सहायक है। महादेवी वासवदत्ता और पद्मावती उसी के द्वारा जीवक के पास अपने सन्देशे पहुँचाती हैं। नाटकीय कथावस्तु की दृष्टि से इन दोनों सन्देशों को जीवक के पास पहुँचाने तक ही उसके चरित्र का मूल्य है। तृतीय अङ्क के छठवें दृश्य के अन्त में वसन्तक की एक स्वगतोक्ति द्वारा मागन्धी के जीवन में अन्तिम परिवर्तन की सूचना भी दी गई है।

नाटककार ने वसन्तक के चरित्र द्वारा हास्यविधान का प्रयास किया है। मेरे विचार से इसमें उसे यथेष्ट सफलता नहीं मिली। इसका प्रथम कारण तो यह है कि वसन्तक के हास्य-विनोद का आधार जीवक गम्भीर प्रकृति का मनुष्य है। वह उसके हास्य-विनोद में सहयोग नहीं देता है। वह उसकी हँसी की बातों को बहुधा सुनी अनसुनी करता हुआ अपने मतलब की बात उससे निकाल कर अपना पिण्ड छुड़ाता है। इस प्रकार वसन्तक का एकाङ्गी हास्य अपना सम्पूर्ण प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाता।

वसन्तक द्वारा हास्य-विधान की असफलता का दूसरा कारण हास्योत्पादक व्यापार का सर्वथा अभाव है। बेतुके एवं व्यतिक्रमपूर्ण कथोपकथन के साथ हास्यविधान के लिए तदनुरूप व्यापार भी आपेक्षित है। किसी बात के कहने का तभी प्रभाव पड़ता है जब उसके अनुरूप

कुछ आचरण भी हो।

हास्यविधान में असफलता का मूल कारण 'प्रसाद' की दार्शनिक चिन्तन-शीलता है। उन्होंने इसके विधान का प्रयास मानों प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूषकों की परम्परा के निर्वाह रूप में किया है। उनकी स्वतः इस ओर विशेष प्रवृति नहीं प्रतीत होती है। सम्भवतः हास्य का व्यापक चित्रण नाटक के गम्भीर दार्शनिक वातावरण के विरुद्ध भी पड़ता। इस दृष्टि से यह त्रुटि मार्जनीय है।

जनमेजय

'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक का नायक जनमेजय है। वह क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति है। उसके चरित्र में दृढ़ता, पराक्रम, धैर्य, संयम, उदारता, विनम्रता आदि विविध उदात्त गुणों का निदर्शन है। वह अपनी इन स्वभावज विशेषताओं के कारण नाटक का धीरोदात्त नायक है।

नाटक के आरम्भ में ही हमें उसकी विनम्रता, क्षमाशीलता, उदारता और सहिष्णुता का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। पाखण्डी काश्यप के प्रगल्भ आचरणों पर क्रुद्ध न होकर, जनमेजय उसे समुचित दक्षिणा द्वारा सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता है। जनमेजय जिस मधुरता से ब्रह्मचारी उत्तङ्क का स्वागत अपनी राजसभा में करता है तथा वह जिस उत्कण्ठा से अपने गुरुकुल की बातें उत्तङ्क से पूछता है उसमें उसके हृदय की सरलता और प्रकृति की उदारता तथा सौजन्य व्यक्त होते हैं। जरत्कारु ऋषि की अज्ञानवश निरपराध हत्या हो जाने से उसका अन्तःकरण क्षोभ और ग्लानि से भर जाता है। वह ऋषि की वेदना को अनुभव करता हुआ स्वयं कातर भाव से कहता है।—"अनर्थ होगया। हाय रे भाग्य! आए थे मृगया खेल कर हृदय बहलाने, यहाँ होगया ब्रह्महत्या का महा पातक! तपोनिधे! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा!" जनमेजय के इस निरपराध कृत्य के कारण यद्यपि ब्राह्मणमण्डल, आरण्यक, परिषद् के सभ्यगण, कर्मचारी आदि उसकी अवहेलना एवं उपेक्षा करते हैं किन्तु वह, राज्यशक्ति का अनुचित प्रयोग कर, किसी का प्रतिकार नहीं करता, अपितु उक्त कार्य के दण्डविधान स्वरूप स्वयं ही अश्वमेध करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

जनमेजय में साहस और दृढ़ता है। वह प्रतिकूल परिस्थितियों से घबड़ाकर कर्त्तव्य-पथ से विमुख नहीं होता। ब्राह्मणों के षड्यन्त्र से कुछ समय के लिए वह विचलित तो अवश्य होता है किन्तु उत्तङ्क की मन्त्रणा से शीघ्र ही कर्त्तव्य निर्धारित कर वह उसे पूरा करने के लिए कृत-संकल्प होता है—"अश्वमेध पीछे होगा, पहिले नागयज्ञ करूँगा।" इन यज्ञों के विधान में उसका पराक्रम भी प्रकट होता है।

नागों के विरुद्ध उसका द्वेष परम्परागत है। उसके पिता परीक्षित की हत्या नागों द्वारा हुई है। उसका स्मरण उसे सदैव खटकता रहता है। नाग-परिणय करने वाली यादवी सरमा का तिरस्कार वह उसी द्वेष की प्रेरणा से करता है— दस्यु महिला के लिए कोई आर्य न्यायाधिकरण में नहीं बुलाया जायगा।' × × × × 'चुप रहो! पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है।' उसके इस कथन में जातीय अभिमान की भी झलक है।

नागों के दमन में जनमेजय जिस क्रूरता का निदर्शन करता है वह देशकाल और पात्र के अनुकूल है तथा परिस्थितिजन्य है। बर्बर नाग जाति दस्युवृत्ति ग्रहण कर हत्या और लूट आदि के द्वारा शान्त आर्य जनपदों को त्रस्त करती है। अतः नागों का कठोरता पूर्वक दमन करना राज्यधर्म के अनुसार सङ्गत है। क्रूर कर्मों की अवतारणा में भी जनमेजय का विवेक और उसके हृदय की स्निग्धता तथा कोमलता नितान्त कुण्ठित नहीं होते वह आस्तीक के प्रभावशाली व्यक्तित्व की मुक्तकण्ठ से सराहना करता है—"आश्चर्य कुमार! तुम्हारा मुखमण्डल तो बड़ा सरल है, फिर भी वह क्या कह रहा है। मैं किस लोक में हूँ?" वह आस्तीक का निवेदन बड़े ध्यान से सुनता है और अपने विवेक तथा न्याय-बुद्धि का परिचय देते हुए वह उसके अनुरोध को स्वीकार करता है। जनमेजय, आस्तीक की प्रार्थना को न्यायसङ्गत मान कर आज्ञा देता है—'छोड़ दो तक्षक को।'

जनमेजय केवल सैनिक या न्यायविधान करने वाला राजा ही नहीं है। सौन्दर्य और सुषमा से प्रभावित हो उसके प्रति आकृष्ट होने की सहज प्रवृत्ति भी उसमें है। नागकन्या मणिमाला के प्रति उसका आकर्षण उसके सौन्दर्य तथा अपूर्व सरलता के कारण है। प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर शत्रु-कन्या होने के कारण वह उसका आतिथ्य तो नहीं ग्रहण करता किन्तु वह उसके सौन्दर्यपूर्ण सरल व्यक्तित्व से इतना प्रभावित होता है कि उसके सामने ही वह हठात् स्वीकार करता है—"मैं तो तुम सी नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ।" शत्रु-कन्या के समक्ष आत्मसमर्पण के इस भाव में जनमेजय के हृदय की निश्छलता और गुणग्राहकता प्रकट होती है। नाटक के अन्त मे वह, सरमा के अनुरोध तथा अपनी परिणीता भार्य्या वपुष्टमा की स्वीकृति से, मणिमाला को पत्नी रूप में स्वीकार करता है। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस सम्बन्ध का परिणाम उभय पक्ष के लिए मङ्गलकारी है। नाग जाति और आर्य्य जाति इस सम्बन्ध के द्वारा राजनीतिक एकता के सूत्र में ही नहीं बँध जाती है, वरन् दोनों जातियाँ परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान से एक दूसरे मे सदा के लिए घुलमिल जाती हैं।

जनमेजय के चरित्र में एक त्रुटि खटकने वाली है। वह है उसकी भाग्यवादिता। जनमेजय शक्तिशाली सम्राट होकर भी नियति और प्रकृति के फेर में पड़ा प्रायः किंकर्त्तव्यविमूढ़ प्रतीत होता है। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह सब कुछ करते हुये भी मानो स्वयं कुछ नहीं कर रहा है। 'प्रसाद' जी ने अपने नियतिवाद की ऐसी गहरी छाप उसके चरित्र पर लगा दी है कि वह समय समय पर 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है' मन्त्रवत जपा करता है और व्यास तथा उत्तङ्क की प्रेरणा से ही वह कर्म्मक्षेत्र में आता है। नियति पर अन्धविश्वास के कारण उसका व्यक्तित्व कुछ धुँधला पड़ गया है। पात्रों का व्यक्तित्व निजी और स्पष्ट होना चाहिए। उन पर नाटककार के स्वकीय सिद्धान्तों का आरोप अवांछित है।

तक्षक

नागराज तक्षक का चरित्र-चित्रण नायक के प्रतिपक्ष रूप में बड़ी सजीवता के साथ हुआ है। जातीय अपमान की ज्वाला में उसका सन्तप्त हृदय प्रतिहिंसा से निरन्तर प्रेरित रहता है। वह इसी की प्रेरणा से जीवन में अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। उसके अन्तःकरण की मूल प्रवृत्तियों का परिचय उसके नाटक में प्रवेश करते ही हमें मिलता है। वह स्वगतोक्ति द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त करता है—"प्रतिहिंसे! तू बलि चाहती है, तो ले, मैं दूंगा! छल, प्रवञ्चना, कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी।" तक्षक का समस्त जीवन इन्हीं भावों की यथार्थ अभिव्यक्ति है। वह उत्तङ्क की कपटपूर्ण क्रूर हत्या करना चाहता है। रानी वपुष्टमा का, वह अत्याचार द्वारा, अपहरण करने का उद्योग करता है। नागों को सङ्गठित कर दस्युकर्म द्वारा आर्य्य जनपदों में, वह हत्या और लूट आदि कार्यों से, आतङ्क उत्पन्न कर देता है।

तक्षक अपने विचारों को कार्य्यरूप में परिणित करने के लिए यथेष्ट कुशल है। वह प्रलोभन द्वारा काश्यप को अपनी ओर मिलाकर राजकुल की अनेक रहस्यपूर्ण बातें जान लेता है। दामिनी को अपने यहाँ आश्रय देकर वह, उत्तङ्क के कार्यों का प्रतिकार करने का अच्छा साधन प्राप्त करता है। वह ब्राह्मणों में भेद बुद्धि पैदा कर उन्हें भी अपनी ओर फोड़ लेने की सफल चेष्टा करता है।

मनुष्य स्वयं जिन विचारों का हामी होता है वह उसी प्रकार के विचार वाले व्यक्तियों का सम्बन्ध स्वीकार करता है। उसे अपने पराये का भी भेद इसमें मान्य नहीं होता है। तक्षक इसी कोटि का है। वह

सरमा को अपने विचारों और कार्यों का विरोध करने के कारण ठुकरा देता है और उसकी हत्या तक करने को प्रस्तुत हो जाता है। तक्षक अपनी कन्या मणिमाला के प्रति स्नेह रखते हुए भी उसकी उपेक्षा ही करता है। उसकी प्रार्थनाओं की ओर वह कान नहीं देता। आस्तीक के महान व्यक्तित्व के प्रति उसकी कोई आस्था नहीं है। वह अपने विचारों के अनुकूल व्यक्तियों के प्रति ही ममत्व रखता है। मनसा और वासुकी के प्रति उसकी सच्ची श्रद्धा और आस्था है। ये लोग उसके मूल विचारों के समर्थक हैं अतः वह उनका प्रतिरोध भी स्वीकार करता है। सरमा की हत्या की चेष्टा में एक बार मनसा बीच में आकर उसे रोकती है और दूसरी बार वासुकी उसका प्रतिरोध करता है।

तक्षक में अपने विचारों के अनुरूप कार्य करने की दृढ़ता और साहस भी है। वह यज्ञ के घोड़े को बलपूर्वक पकड़वा लेता है और उसके परिणामस्वरूप युद्ध में साहसपूर्वक शत्रुओं का सामना करता है। बन्दी होकर भी वह जनमेजय के समक्ष प्राणभिक्षा नहीं मांगता है और न उसकी आधीनता ही स्वीकार करता है। वह निर्भीकतापूर्वक जनमेजय के समक्ष ही उसकी आलोचना करता है—"क्षत्रिय सम्राट् तुम क्रूरता में किसी से भी कम नहीं हो।"

नाटककार ने तक्षक के चरित्र में वास्तविकता की पूर्ण रक्षा की है। उसके चरित्र पर उनके आदर्शों का कृत्रिम आवरण नहीं है। उसका चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त सजीव और प्रभावपूर्ण है।

उत्तंक

ब्रह्मचारी उत्तङ्क का जीवन दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में उसका छात्र-जीवन है तथा दूसरा विद्याध्ययन के पश्चात् संसार मे प्रवेश करने से प्रारम्भ होता है। छात्र-जीवन मे उत्तङ्क अपने युग के ब्रह्मचारी छात्रों के समान आदर्श चरित्रवान् है। अध्ययन मे वह दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ अपने सहपाठियों से भी विशेष शीघ्र समझता है। वह सांसारिक प्रलोभनों से भी सदैव दूर रहता है। गुरुपत्नी दामिनी अपनी कामवासना का नग्न चित्र उसके समक्ष रखती है। किन्तु वह आत्मसंयम द्वारा उससे सदैव दूर ही रहता है। वह गुरुदक्षिणा, अपने प्राणों की बाजी लगाकर, अदा करता है। जनमेजय की सभा मे वह जिस निर्भीकता और विनम्रता के साथ रानी के मणिकुण्डलों के लिए प्रार्थना करता है वह उसके साहस और सौजन्य का परिचायक है। उत्तङ्क को अपना 'सरल छात्र जीवन' अति प्रिय है और इसका निर्वाह वह आदर्श रूप में करता है।

उत्तङ्क अपने सांसारिक जीवन में चाणक्य के समान दृढ़-प्रतिज्ञ, कठोर एवं कुशल है। नाटक की घटना—नाग यज्ञ—उसकी ही प्रेरणा से प्रादुर्भूत होती है। उसके विधान मे उत्तङ्क की कठोर कर्म-भावना, और कर्त्तव्य-दृढ़ता व्यक्त होती है। एक बार कुटिल नाग जाति के विनाश के लिए जब वह नागयज्ञ करना निश्चित कर लेता है तब बड़ी कठिनता से ही वह उससे विरत होता है। ब्राह्मणों द्वारा इस हिंसा मूलक यज्ञ का बहिष्कार किए जाने पर भी उत्तङ्क उससे पश्चात्पद नहीं होता। वेद के विरोध करने पर भी वह उनसे कहता है—"भगवन् यह तो मेरा कर्त्तव्य है। कृपया इसमें बाधा न दीजिए।"

नागयज्ञ के विधान में उत्तङ्क जो प्रेरणा एवं सहयोग देता है उसमें नाग-जाति के विरुद्ध उसकी व्यक्तिगत विरोध-भावना के अतिरिक्त समष्टि की कल्याण-भावना भी सुनिहित है। रानी वपुष्टमा जब उससे पूछती है—"यह सब करने पर भी क्या होगा?" तब उत्तङ्क इस यज्ञ का लोक-मङ्गलकारी स्वरूप प्रकट करते हुए उसे बताता है—'राष्ट्र तथा समाज के शासन को दृढ़ करना ही इसका एक मुख्य उद्देश्य है।" लोक-पीड़क नागों के दमन द्वारा ही राष्ट्र और समाज की दृढ़ता और उसका मङ्गल सम्भव है। अतः उसका उक्त कार्य्य हिंसा मूलक होते हुए भी समीचीन है।

उत्तङ्क के स्वभाव में निर्भीकता, साहस, दृढ़ता और कर्त्तव्य-निष्ठा पूर्णरूप से विद्यमान है। मणिकुण्डल प्राप्त करना दुस्साध्य कार्य्य है। किन्तु वह उसके लिए सहर्ष तैय्यार हो जाता है। यह उसकी कर्त्तव्य-निष्ठा का प्रबल प्रमाण है। जनमेजय के यहाँ से मणिकुण्डल लेकर आते हुए तक्षक मार्ग में उसे बलपूर्वक छीन लेने का प्रयत्न करता है। वह उत्तङ्क का वध करने के लिए छुरी निकाले हुए उसके सामने खड़ा है किन्तु वह भयभीत नहीं होता। वह तक्षक को अपने आत्मबल और ब्रह्मबल के आधार पर ललकारता है—"यदि ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार ही नहीं कि वह ब्रह्मतेज पर हाथ चला सके। पाखण्डी तेरा पतन समीप है।" उत्तङ्क कोरी धमकी देने वाला ही नहीं है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है और अपने उत्साहपूर्ण वचनों से वह जनमेजय को किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता के गर्त से बाहर निकालता है। अन्त में नागयज्ञ के विधान द्वारा वह अपना प्रतिशोध पूर्णतया लेता है।

भावावेश में किसी व्यापार का अतिवाद श्रेयस्कर नहीं है। वह हृदय की दुर्बलता का द्योतक है। उत्तङ्क नागयज्ञ के विधान में हृदय की उत्तेजना से प्रवृत्त होता है। इस कार्य्य में उसकी दृढ़ता एवं कुशलता

चाहे भले ही व्यक्त होते हों किन्तु पुनीत मानवता की दृष्टि से वह गिर जाता है। दामिनी उसे इसी का संकेत करती है—"हृदय है। तब तो तुम उसकी दुर्बलता से और भी भली भाँति परिचित होगे। × × × × हृदय के अतिवाद से वशीभूत होने का मुझसे बढ़कर कोई उदाहरण न मिलेगा।" बुद्धिमान पुरुष के लिए संकेत ही पर्य्याप्त है। दामिनी के उक्त कथन से उत्तङ्क का सोया हुआ विवेक जाग्रत होता है और वह उस क्रूर हिंसापूर्ण कार्य्य से पृथक हो जाता है।

उत्तङ्क के चरित्र का विकास परिस्थितिजन्य मानव मनोवृत्तियों पर आश्रित है। उसमें जीवन का उत्थान और पतन चित्तवृत्ति के ऊँचे और नीचे होने के साथ है। अतः उसमें पूर्ण स्वाभाविकता है। उत्तङ्क के जीवन चरित्र से यह भी प्रकट होता है कि मनुष्य का एक ही कार्य्य किसी एक दृष्टिकोण से समीचीन होने पर भी व्यापक दृष्टि से सर्वथा स्तुत्य नहीं होता। नागयज्ञ के विधान में लोकमङ्गल का भाव चाहे भले ही निहित हो किन्तु शाश्वत मानवता की दृष्टि से वह श्लाघ्य नहीं है। नाटककार ने उत्तङ्क के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए आदर्श की प्रतिष्ठा प्रकृत रूप से की है और इसमें उसे यथेष्ट सफलता भी मिली है।

—※—

काश्यप

काश्यप राज—पुरोहित है। वह एक समादरणीय पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी उसके उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। सतोष वृत्ति का उसमे सर्वथा अभाव है। ब्राह्मणोचित अन्य गुण यथा प्रेम, सद्भाव, विश्व-कल्याण-भावना आदि भी उसमें नहीं है। काश्यप के पतन और विनाश के मूल में प्रधान रूप से उसकी असंतोष वृत्ति है। काश्यप विकट अर्थलोभी है। अर्थलिप्सा के वशीभूत होकर वह नीच से नीच कार्य करता है। वह ब्राह्मण को जनमेजय के विरुद्ध भड़काता है। इसमे उसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों के विद्रोह करने से जनमेजय अश्वमेध-यज्ञ करने के लिए बाध्य हो और उसे उस यज्ञ के विधान में लम्बी दक्षिणा मिले। लोभ की सहचर मनोवृत्ति ईर्षा भी काश्यप मे है। जनमेजय उत्तङ्क को मणिकुण्डल देता है। उत्तङ्क का इतनी बहुमूल्य वस्तु प्राप्त करते देख उसे ईर्षा होती है और उन कुण्डलों के प्रति उसका लोभ सजग होता है। वह तक्षक के पास जाकर उसके द्वारा उत्तङ्क से मणिकुण्डल छिनवाने का प्रयत्न करता है। काश्यप को, धन, अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा है। प्राणसंकट प्रत्यक्ष देखकर भी वह प्राणों की उतनी चिन्ता नहीं करता है जितना अपने धन की। कानन में तक्षक आदि के साथ मन्त्रणा करते हुए जब वह जनमेजय की सेना द्वारा घिर जाता है तब वहाँ से भागते समय वह अपने धन के मोह में बुरी तरह फसा दिखाई पड़ता है। वह कहता है—"हाय रे ! यहाँ मेरा बड़ा धन है।"

काश्यप कुटिल और दुर्विनीत है। वह अपने महत्व के मिथ्या दम्भ के कारण विद्वान और गुणियों की उपेक्षा करता है। वह उनके

प्रति बड़े अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है। उत्तङ्क का वह अकारण ही अनादर करने की चेष्टा करता है। तथा साथ ही उसके विद्वान् गुरु वेद पर भी भद्दे आक्षेप करता है।

जनमेजय की सभा में उत्तङ्क से वह कहता है—'जैसा गुरु है वैसे ही तुम भी हो। न बोलने की पद्धति, न विधि विहित शिष्टाचार। क्या वेद ने तुम्हें यही पढ़ाया है।' इसी प्रकार विद्वान कर्मकाण्डी एवं निस्पृह याज्ञिक तुर कावषेय के लिए भी वह बड़े अपमानयुक्त वचनों का प्रयोग करता है। वह तुर से कहता है—"मैं कौरवों का कर्मकाण्ड कराते कराते बुड्ढा होगया किन्तु तुम्हारे समान लफङ्गा इस राजसभा में आजतक न देखा।"

काश्यप आदर्श और सिद्धान्तहीन व्यक्ति है। प्रचुर दक्षिणा प्राप्ति की आशा से वह प्रकट रूप में जनमेजय से आकर मिलता है और ऐन्द्राभिषेक की सम्पूर्ण दक्षिणा स्वयं डकार जाता है। बाद में जब वह तक्षक से जा मिलता है तो शौनक उसके स्थान पर पुरोहित नियुक्त किया जाता है। काश्यप इसी बात से जनमेजय से रुष्ट होकर उसका सर्वत्र विरोध करने लगता है तथा वह उसकी स्त्री के अपहरण का षड्यन्त्र रचवाता है। जनमेजय से बदला लेने के लिए वह तक्षक से मिल जरूर जाता है किन्तु तक्षक के प्रति भी उसका भाव सर्वथा निश्छल और कपट-हीन नहीं है। तक्षक की चेतावनी की उपेक्षा करता हुआ वह उसकी पीठ पीछे कहता है—'मरो कटो मुझे क्या! घात चल गई तो हँ सूंगा, नहीं तो कोई चिन्ता नहीं।"

काश्यप प्रकृतिसिद्ध नीच मनोवृत्तियों का है। अतः कभी भी उसके हृदय में सात्विक भाव का उदय नहीं है और न कपटाचरण और क्रूर व्यवहार करते हुए या करने के पश्चात् उसे आत्मग्लानि की अनुभूति ही होती है। अतः उसे इस संसार में कुछ अर्थलाभ होने के अतिरिक्त

और किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। वह मानवता के स्तर से क्रमशः गिरता ही जाता है। अन्त में वपुष्टमा के अपहरणकाल में एक नाग द्वारा उसकी हत्या होती है जो आदर्शवादी दृष्टिकोण सर्वथा सङ्गत है। लोकादर्शों की रक्षा के लिए ऐसी पापात्माओं का यह परिणाम परमावश्यक एवं उपादेय है।

—※—

आस्तीक

आस्तीक के पिता जरत्कार ऋषि तथा माता नागकन्या मनसा है। इस प्रकार उसके शरीर में आर्य और नागरक्त का मिश्रण है। किन्तु उसके हृदय में किसी एक के लिए पक्षपात तथा दूसरे के प्रति द्वेष नहीं है। आर्य्य ऋषियों के ही समान वह शान्त, स्निग्ध एवं विश्व-कल्याण का इच्छुक है। उसमें नागों की-सी क्रूरता या कुटिलता नहीं है। आस्तीक अपनी विवेकपूर्ण निर्मल बुद्धि द्वारा आर्य्यों और नागों के पारस्परिक संघर्ष भाव को अवगत कर लेता है और दोनों में मेल कराना ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है। वह माणवक से कहता है—"किन्तु भाई हम लोगों का कुछ कर्त्तव्य भी है। दो भयङ्कर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही हैं। उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।"

आस्तीक जीवन के प्रारम्भ में ही दार्शनिक बुद्धि सम्पन्न हो जाता है। वह मणिमाला से कहता है—"क्यों मणि यह सब क्या है? इसका कुछ तात्पर्य्य भी है या केवल कुतुक है?" उसकी इस दार्शनिक बुद्धि के मूल में सच्शिक्षा एवं शैशवकाल में ही पिता और माता की स्नेह छाया से उसका सर्वथा वञ्चित हो जाना है। उसके पिता जरत्कार ऋषि की जनमेजय द्वारा आखेट में धोखे से हत्या हो जाती है तथा उसकी माता मनसा भी उसे त्याज्य पुत्र घोषित कर देती है। अतः विश्व की जटिलताओं का प्रत्यक्षीकरण उसे बाल्यजीवन में ही हो जाने के कारण उसके हृदय में सात्विक बुद्धि और विवेक का स्फुरण हो जाता है। वह मणिमाला से कहता है—"रोना और हँसना ये ही तो मानवी सभ्यता के आधार हैं। आज मेरी समझ में यह बात आगई कि इन्हीं के साधन

मनुष्य की उन्नति के लक्षण कहे जाते हैं।"

आस्तीक विश्वमञ्च पर महान् उद्देश्य और आदर्शों को लेकर अवतरित होता है। उसके मार्ग में अनेकानेक कठिनाइयाँ हैं किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसमें अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की दृढ़ता है। उसका कोई भी सजातीय उसे सहायता देने वाला नहीं है। नागों की हिंसक वृत्ति के शमन करने के प्रयास में उसकी माता ही उसका विरोध करती है और उसकी कठोर भर्त्सना कर उसे त्याग देती है। आस्तीक कर्मवीर है। वह अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता है तथा एक बार विचलित होने पर भी वह माता के सामने ही प्रतिज्ञा करता है—"तलवार लेकर तो नहीं पर यदि हो सका तो मैं दूसरे प्रकार से यह विवाद मिटाऊँगा। इस क्रोध की बाढ़ में मैं बाँध बनूँगा, चाहे फिर मैं ही क्यों न तोड़कर बहा दिया जाऊँ।" आस्तीक का यह कथन कोरा प्रलाप नहीं है, वरन् उसमें आत्मविश्वास, दृढ़ता, और निर्भीकता की स्पष्ट झलक विद्यमान है।

सुशिक्षा के प्रभाव से आस्तीक शीलवान है। उसकी माता यद्यपि अपने प्रमाद से ही उसे अपना त्याज्य पुत्र घोषित कर उससे सम्बन्ध विच्छेद करती है किन्तु आस्तीक की मातृभक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह शीलवश अपनी माता को दोषी नहीं मानता है वरन् उसके रोष के मूल में अपना ही अपराध देखता है। व्यास के समक्ष इसी की प्रेरणा से वह आत्मग्लानि व्यक्त करता है—"भगवन्! मैं मातृ-द्रोही हो गया हूँ। मैंने माता की आज्ञा नहीं मानी। मेरे सिरपर यह एक भारी अपराध है।" व्यास के सदुपदेशों से उसकी ग्लानि दूर होती है।

आस्तीक एक सच्चा कृती पुरुष है। व्यास के कथनानुसार उसका 'प्रादुर्भाव किसी विशेष कार्य्य के लिए हुआ है।' वह अवसर प्राप्त होने पर उस महत्वपूर्ण कार्य्य को सम्पादित करता है। नागयज्ञ के विधान में तत्पर जनमेजय की प्रतिहिंसाग्नि को शमन करने की शक्ति

आस्तीक के अतिरिक्त किसी अन्य में नहीं है। जनमेजय, उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उससे कहता है—"आश्चर्य! कुमार! तुम्हारा मुखमण्डल तो बड़ा सरल है; फिर भी वह क्या कह रहा है। मैं किस लोक में हूँ ?" जनमेजय उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो उसे अपना रक्त तक देने को उद्यत हो जाता है। आस्तीक के समक्ष जनमेजय उसके पिता की हत्या का अपराध स्वीकार करता है। इस प्रकार वह अपनी निर्भीकता एवं वाक्पटुता से राजा की प्रतिहिंसा से उत्तेजित आत्मा को प्रकृतिस्थ करता है। वह प्रतिकार के रूप में राजा से आत्मसुख की कोई वस्तु नहीं चाहता। आस्तीक दो जातियों में शान्ति का ही अभिलाषी है, अतः वह सम्राट् से कहता है—"मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिए। सम्राट् शान्ति घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिए। यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल है।" आस्तीक के अनुरोध से नागयज्ञ समाप्त होता है और मनसा के समक्ष की हुई उसकी प्रतिज्ञा पूरी होती है। आस्तीक के व्यक्तित्व की सराहना भगवान् बादरायण भी मुक्तकण्ठ से करते है—"धन्य है क्षमाशील ब्रह्मवीर्य ! ऋषि कुमार, तुम्हारे पिता को धन्य है।" निस्सन्देह आस्तीक सदृश लोकपावन चरित्रवाली सन्तानों से उनके माता पिता गौरवान्वित होते हैं।

———

वासुकि

वासुकि, नागकुल उत्पन्न होने पर भी, नागों के समान स्वभावत कुटिल, क्रूर और हिंसाप्रिय नहीं है। वह नागों और आर्यों में मेल कराने का पक्षपाती है और उसके लिए चेष्टा करता है। वह आस्तीक के समान शान्ति का अग्रदूत बन सर्वत्र विचरण तो नहीं करता किन्तु फिर भी उसके आचरणों में मर्यादा का भाव और संयम है। वह केवल जातीयता की भावना से प्रेरित होकर नागराज तक्षक का सहकारी है किन्तु फिर भी वह उसकी अकारण क्रूरताओं और कपटाचरणों में उसका साथ नहीं देता।

वासुकि में विवेक और मनुष्यता है। वह निरीह और निरपराध व्यक्तियों की विश्वासघातयुक्त हत्या का समर्थन नहीं करता। तक्षक, जब उत्तङ्क और सरमा पर प्रहार कर उनका अन्त करने को उद्यत होता है तब वासुकि ही बीच में पड़कर उनकी रक्षा करता है। वह तक्षक से कहता है—"नागराज! सरमा और उत्तङ्क मुक्त हैं। वे जहाँ चाहें, जा सकते हैं।" वासुकि के इस कथन से उसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता भी प्रकट होती है।

वासुकि में जातीय गौरव और स्वामिभक्ति की भावना पूर्णरूप से विद्यमान है। वह अपने नायक का पराभव और जाति की दुर्दशा सहन नहीं कर सकता। वह साहसी और दृढ़ स्वभाव वाला है। तक्षक और मणिमाला के बन्दी हो जाने पर वह घोषणा करता है—"चलो वीरो! जो लोग युद्ध के योग्य हैं वे सब एक बार निर्वाणोन्मुख दीप की भाँति जल उठें। यदि औरों को जला न सकोगे तो स्वयं ही जल जाओगे।" वह 'मरण के डर से कलंकित जीवन बचाने का दुस्साहस' करना असम्भव

मानता है। उसमें वीरोचित उत्साह और जातीय जीवन की रक्षा के लिए आत्मत्याग की आदर्श भावना निर्विवाद रूप से वर्तमान है।

वासुकि के लिए सरमा के साथ दाम्पत्यजीवन निर्वाह एक समस्या है। दोनों ही परस्पर सहचर होते हुए परस्पर जीवन मार्ग में भिन्न हैं। सरमा नागों की क्रूरता और कुटिलता के कारण उनसे दूर भागती फिरती है। वासुकि जातीय प्रेम से सदैव अनुप्राणित है और वह उसके लिए आत्मोत्सर्ग के लिए भी सदैव प्रस्तुत रहता है। सरमा और वासुकि के दृष्टिकोण में परस्पर विभिन्नता होते हुए भी, अनुरागभाव दोनों में है। सरमा यदि प्रभास के विप्लव में वासुकि पर मुग्ध होकर अपनी इच्छा से चली आई तो वासुकि भी उसके जीवन और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। वह तक्षक के हाथों से सरमा की हत्या नहीं होने देता, तथा सरमा के सम्मान-रक्षा के लिए वह प्रतिश्रुत होता है। सरमा के साथ अनुकूल दाम्पत्यजीवन निर्वाह का श्रेय वासुकि का ही है। वासुकि नागों के संपर्क में रहकर भी अपना चरित्र गिरने नहीं देता और उसका व्यक्तित्व समष्टि रूप में सराहनीय है।

———

माणवक

माणवक एक कल्पित पात्र है। नाटक की प्रधान घटनाओं एवं प्रमुख पात्रों से उसका विशेष सम्पर्क नहीं है। नाटककार ने इसके चरित्र में एक तिरस्कृता नारी के आश्रय विहीन पुत्र का दयनीय चित्र अंकित किया है।

माणवक के चरित्र का विकास, जीवन की अंधकार पूर्ण परिस्थितियों में होता है। उसकी माता सरमा का पतिगृह में तिरस्कार होता है अतः वह भी अपनी माता के साथ ही अपने पिता के वैभव को ठुकरा कर चला आता है। आर्यजनपद में भूख लगने पर यज्ञशाला का घी खाने के अपराध में उस पर मार पड़ती है। न्यायालय में उसकी सुनवाई भी नहीं होती। उसकी माता को नागपरिणय के कारण वहाँ भी अपमानित होना पड़ता है। माणवक का हृदय अभियुक्त होकर विद्रोही हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में उसके मानस में प्रतिहिंसा का स्फुरण होना स्वाभाविक है। वह अपनी माता से कहता है—"मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का ताण्डव किए बिना न जी सकूँगा।"

माणवक अपनी माता का अनन्यभक्त है। वह जिस प्रकार उसके साथ अपने पिता का वैभव सुख छोड़कर पेट की ज्वाला सहता हुआ तथा दर-दर की ठोकर खाता हुआ घूमता है, इसी प्रकार वह माता की प्रत्येक आज्ञा के सामने सिर झुका कर उनका आजीवन पालन करता है। वह माता की इच्छा और आदेश के सामने अपने व्यक्तिगत विचारों का बलिदान करता है। सरमा उसकी प्रतिहिंसक मनोवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं

करती। वह माणवक की प्रतिहिंसक मनोवृत्ति का विरोध करती हुई उसे समझाती है—"हत्या! तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता है, पर मैं यह कलंक नहीं सह सकती।" माणवक के जीवन में अनेक अवसर आते हैं जब वह अपने विचारों को कार्य्य रूप मे परिणित कर सकता, किन्तु उसकी माता के उपर्युक्त शब्द मानों उसके कर्ण-कुहरों में सदैव गूँजते रहते हैं और वह अपने मनोवेगों को दबा देता है। दामिनी उससे तक्षक के पास चलकर जनमेजय आदि के विरुद्ध अपना प्रतिशोध लेने के लिए उत्तेजित करती है। माणवक के हृदय में द्वन्द्व छिड़ता है। प्रतिशोध का भाव उसके हृदय में है। वह संसार का एक ऐसा तिरस्कृत और उपेक्षित प्राणी है जो सर्वत्र ठोकरें खाता फिरता है। किन्तु वह फिर भी दामिनी का साथ नहीं देता है। और उसे भी उस पथ पर अग्रसर होने से रोकता है। रानी वपुष्टमा के अपहरण के समय वह उपस्थित है। वह चाहता तो उसे पकड़ कर नागों के हाथ सौंप देता। किन्तु उसने अपनी माता के सदुपदेशों से यह अनुभव कर लिया है कि "क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है।" अतः वह माँ की आज्ञा नहीं टालता और अपनी जान पर खेल कर नागों के चंगुल से वपुष्टमा को बचाता है। वह उसे श्याम के निरापद आश्रम में लेजाकर उसके जीवन और सतीत्व की रक्षा करता है। माणवक की मातृ-भक्ति अटल है। उसका समस्त जीवन उससे अनुप्राणित है। उसके आलोक मे ही माणवक के हृदय में परिस्थिति-जन्य दुर्वृत्तियाँ भी दब जाती हैं और वह लोकपीड़क के रूप में नहीं वरन् लोक-हितकारी के रूप में ही दिखाई पड़ता है।

सरमा

यादवी सरमा का चरित्र उत्थान, पतन परिवर्तन, तथा आशा और निराशा की एक मनोरंजक एवं मर्मस्पर्शिणी करुण कहानी है। प्रभासक्षेत्र में अर्जुन के साथ जाते हुए वह नागों तथा आभीरों द्वारा अपहृत हुई। नागराज वासुकि पर मुग्ध होकर उसने उसका वरण किया। किन्तु नागकुल में जातीय अपमान की ज्वाला के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिलता है। मनसा के विषाक्त व्यंग्यों से वह क्षुब्ध होती है। 'सबते कठिन जाति अपमाना', गोस्वामी जी की इस उक्ति के अनुरूप जातीय अपमान असह्य होने पर वह मानों मनसा के अनर्गल प्रलाप के कारण उसके मुँह पर थप्पड़ मारती हुई नागकुल का परित्याग कर चल देती है। नागकुल का परित्याग करती हुई वह मनसा को जो मुँह तोड़ उत्तर देती है उसमें उसका स्वाभिमान कूट कूट कर भरा है। सरमा कहती है—"मनसा, मैं व्यंग्य सुनने नहीं आई हूँ! × × × × यह समझ रखना कि *कुक्कुर वंश से यादवों की यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ* और अकर्मण्यता की मूर्ति होकर नहीं आई है। इस वक्ष-स्थल में अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है।" वह फिर कहती है—"मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किन्तु इन हृदयहीन उद्दंड-बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।" सरमा के उपरोक्त कथन में स्वाभिमान के साथ निर्भीकता और स्वावलम्बन की भावना भी व्यक्त होती है।

सरमा स्वाभिमानिनी और निर्भीक है किन्तु उसके हृदय में प्रतिहिंसा का कलुषित भाव नहीं है। वह उपेक्षा और तिरस्कार को भी शान्ति पूर्वक ग्रहण कर लेती है और तिरस्कार करने वाले के प्रति उसके

हृदय में प्रतिकार की भावना नहीं आती है। जनमेजय उसके पुत्र माणवक के साथ अन्याय करने वालों के विरुद्ध कोई दण्ड विधान करने को उद्यत नहीं होता है। वह उल्टा सरमा की ही भर्त्सना करता है—'चुप रहो पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं। XXXX जाओ सरमा! तुमको लज्जित होना चाहिए।' इस प्रकार दारुण अपमान की यन्त्रणा में पिसकर भी सरमा अवैध उपाय द्वारा उसका प्रतिकार नहीं करना चाहती। उसका पुत्र माणवक उसे उत्तेजित करता है—"माँ मेरे हृदय में दारुण प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। घमण्डियों के वे वक्र विलोचन बरछी की तरह लग रहे हैं। माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। -XXX" सरमा के धैर्य और विवेक की कठिन परीक्षा का यह अवसर है। असाधारण हृदय ही ऐसी परिस्थिति में अपने को सम्हाल सकता है। सरमा इस अग्नि-परीक्षा में पूर्ण सफल होती है। वह माणवक के गुप्त-हत्या प्रस्ताव को अस्वीकार कर, धैर्य पूर्वक परिस्थितियों का सामना करने के लिए उसे साहस प्रदान करती है।

सरमा में समत्व बुद्धि की प्रधानता है। वह शत्रु का अपकार न कर, अपने उपकारों द्वारा उसका हृदय परिवर्तन करती है। और उसका विवेक जाग्रत करती है। वपुष्टमा राजसभा में उसका अपमान करती हुई कहती है—"छी: आर्य-ललना होकर नागजाति के पुरुष से विवाह किया! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।" सरमा अपमान की इस कड़वी घूँट को पीकर, कलिका दासी के रूप में वपुष्टमा की परिचर्या करती हुई नागों द्वारा उसके अपहृत होने पर उसके जीवन और सतीत्व की रक्षा करती है। सरमा की इस महान् विजय को वपुष्टमा स्वयं स्वीकार करती है—"बहिन सरमा, मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था। आज मुझे तुम्हारे सामने आँख उठाते लज्जा

आती है। तुमने मुझ पर जैसी विजय पाई है, वह अकथनीय है।" "इसी प्रकार यद्यपि मनसा प्रमादवश सरमा का खुला अपमान करती है तथा तक्षक उसे दो बार मारने को उद्यत होता है किन्तु वह मनसा को यह वचन देती है—"मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि मुझसे नागों का कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।" निस्सन्देह सरमा नागकुल की निरन्तर मङ्गल-कामना करती है और अन्त में उसी के प्रस्ताव से जनमेजय और नागकन्या मणिमाला का विवाह हो जाने पर नागकुल शाश्वत कल्याण का भागी होता है।

विपत्तियों के वात्याचक्र में पड़कर भी सरमा असीम साहस और धैर्य द्वारा अपनी जीवन नौका विश्व-महासागर में सफलता पूर्वक खेने की अपूर्व क्षमता रखती है। वह पति सुख से वंचिता है; पुत्र भी उसका साथ छोड़कर चला जाता है। स्वजातीय एवं पतिकुल के लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। वास्तव में उसे विश्व में अपना कोई नहीं दिखाई पड़ता है। नाटककार ने उसकी मनोव्यथा का स्वल्प दिग्दर्शन उसकी एक स्वगतोक्ति द्वारा कराया है। माणवक के चले जाने पर वह अत्यन्त व्यथित हृदय से कहती है—"चला गया। हाय रे जननी का हृदय! मैं सब ओर से गई। अन्धकार पूर्ण शून्य हृदय इसमें सैकड़ों बिजलियों से भी प्रकाश न होगा।" जीवन की नैराश्यपूर्ण विपन्नदशा में भी उसका कर्त्तव्य ज्ञान सदैव सचेष्ट रहता है। तक्षक सोते हुए उत्तङ्क की हत्या करना चाहता है किन्तु सरमा झपट कर उसका हाथ पकड़ लेती है। और उत्तङ्क को मरने से बचा लेती है। वह नागकुल में रहकर भी नागों की कुटिल नीति का समर्थन नहीं करती। काश्यप, ब्राह्मणों को लेकर तक्षक के साथ जनमेजय के विरुद्ध विप्लव की मन्त्रणा करता है। सरमा ऐसे पोच कार्यों का निर्भीकता पूर्वक खुला विरोध करती है। वह अपने प्राणों का भी मोह न कर तक्षक के सामने ही काश्यप को फटकारती है—"फिर भी एक दस्युदल को उसका स्थानापन्न बनाना कोई बुद्धिमत्ता

नहीं है। धर्म का ढोंग करके, एक निर्दोष आर्य्य-सम्राट् को अपने चंगुल में फँसा कर, उसके पतित होने की व्यवस्था देना जिससे वह राज्य-च्युत कर दिया जाय, क्या उचित है ?" सरमा की इस उक्ति में उसकी आत्मस्वतन्त्रता की पूर्ण झलक है। वह अपना सब कुछ त्याग कर भी इसे अपनाए रहती है।

सरमा का दाम्पत्य प्रेम भी अपने ढंग का अपूर्व है। यादवी सरमा ने नागराज वासुकि पर मुग्ध होकर परिणय किया। वह इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित विश्वमैत्री और साम्यभाव से भी अनुप्राणित हुई। नागकुल में अपमान यन्त्रणा प्रताड़ित होने पर जब वह उसका परित्याग करती है तब भी उसका पतिप्रेम कम नहीं होता। वह अपने पत्नी-भाव का त्याग नहीं करती तथा वह जनमेजय के यहाँ भी स्वीकार करती है "मैंने अपनी इच्छा से नाग-परिणय किया।" जब वासुकि, तक्षक से सरमा की रक्षा कर, उससे अपने साथ चलने का आग्रह करता है तब वह उसकी प्रार्थना ठुकरा नहीं देती वरन् स्वातन्त्र्य-रक्षा का वचन लेकर वह उसके साथ पुन. नागकुल में सम्मिलित होती है। सरमा केवल स्वाभिमान-वश ही अपने पति से अलग है। वह पति स्नेह में तो सर्वथा अभिन्न है। पति को कष्ट में पड़ा हुआ देखकर उसका नारी-हृदय हाहाकार कर उठता है। वासुकि जब जनमेजय की सेना से एक बार घिर जाता है तब सरमा का पतिप्रेम मर्य्यादा का बांध तोड़कर मानों फूट निकलता है—"देवता ! तुम संकट मे हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूँ। मेरा अश्रुजल समुद्र बनकर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा; मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बनकर तुम्हें सुरक्षित रखेगी ! तुम्हारे लिये अपमानित सरमा राजकुल में दासी बनेगी।" पति की कल्याण कामना से प्रेरित होकर ही सरमा वपुष्टमा की कलिका नामधारिणी दासी बनती है और उसे सब प्रकार के संकटों से बचाती है। सरमा का दाम्पत्यप्रेम भारतीय परम्परा के अनुकूल है। भारतीयनारी एक बार

जिसे अपना पति चुन लेती है उसके लिए आत्मोत्सर्ग करने में अपना परम सौभाग्य मानती है। सरमा का पति-प्रेम गम्भीर और अभिन्न है। सरमा के चरित्र में नाटककार ने एक ऐसी आदर्श नारी का चरित्र प्रस्तुत किया है कि जो जीवन की प्रतिकूल दशाओं में भी अपने पवित्र उद्देश्यों पर स्थिर रहती है। वह जीवन में अनेक कष्ट-अपमान आदि को सहती हुई विश्व-मैत्री और साम्य के आदर्श का मनसा वाचा कर्मणा सतत पालन करती है। अन्त में उसके पावन चरित्र की महत्ता से प्रभावित हो उसके शत्रु भी उसके आगे सिर झुकाते हैं और वह सबकी श्रद्धा का पात्र बनती है। सरमा का चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त गौरवपूर्ण है। वह लोक-व्यवहारों के बीच अपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ती हुई नाटकीय वातावरण को स्वर्गीय सुषमा से विभूषित करती है।

मणिमाला

मणिमाला का जन्म नागकुल में है। वह नागराज तक्षक की कन्या है। किन्तु उसका शिक्षण और चारित्रिक विकास आर्य्य तपोवन में होता है। अतः उसके हृदय पर नाग-संस्कृति के स्थान पर आर्य्य-संस्कृति का विशेष प्रभाव है। वह करुणा, विश्व-प्रेम, उदारता आदि सात्विक भावों से ओत-प्रोत है। मणिमाला भावुक भी है। प्रकृति के नाना दृश्यों और उपादानों में उसकी वृत्ति रमती है और उनसे वह जीवन के लिए सुन्दर आदर्श ग्रहण करती है।

शिक्षा के प्रभाव से मणिमाला अपने आदर्शों को कार्य्य रूप में परिणित करने के लिए तत्पर रहती है। अतिथि सेवा, विपन्न-रक्षा, घायलों की सेवा आदि विविध कार्य्यों में वह सोत्साह संलग्न रहती है। जनमेजय से वह बारम्बार आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध करती है—"स्वागत ! माननीय अतिथि आपको इस गुरुकुल का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करना चाहिए। नहीं तो कुलपति सुनकर हम लोगों पर रुष्ट होंगे।" अश्वसेन के हाथों से वह दामिनी के सतीत्व की रक्षा करती है। वह अश्वसेन को उसकी कामुक चेष्टाओं के लिए भरपेट कोसती है—"भइया, तुम एक दुर्बल रमणी पर अत्याचार करोगे ? मुझे स्वप्न में भी इसका अनुमान न था। मेरे पिताजी की सन्तान होकर तुम ऐसी बीभत्सता करोगे। हाय ! नागकुल में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए तभी तो उसकी यह दशा है।" मणिमाला, युद्ध और संघर्ष को सदा प्रोत्साहन देने वाली मनसा की, व्यंग्यात्मक शब्दों द्वारा लम्बी खबर लेती है, और युद्ध के प्रति उसके हृदय में विरक्ति उत्पन्न करा कर वह उसी के साथ घायलों की शुश्रूषा में प्रवृत्त होती है।

मणिमाला का समस्त जीवन विश्वमैत्री से अनुप्राणित है। इसी की प्रेरणा से वह मनसा को उत्तेजनात्मक कार्यों से विरत करती है और अपने पिता से भी युद्ध-व्यापार बन्द कर देने का अनुरोध करती है। वह अपने पिता से कहती है— "पिता जी जब कि आर्यों ने इधर उपद्रव करना बन्द कर दिया है और वे एक दूसरे रूप में सन्धि के अभिलाषी हैं; तब फिर आप युद्ध के लिए क्यों उत्सुक हैं ?"

मणिमाला कायर नहीं है। संकटपूर्ण समय के उपस्थित होने पर वह साहस के साथ उसका सामना करने के लिए प्रस्तुत रहती है। उसके पिता ने राजमहिषी वपुष्टमा के अपहरण का दुष्कर आयोजन किया है। विपत्ति की अशंका से मणिमाला मुँह छिपा कर नहीं बैठती। वह पिता को बचाने के लिए पूर्ण साहस और युद्धोत्साह के साथ तत्पर होती है। आस्तीक से वह कहती है—' नहीं, मैं तो आज उपद्रव में कूद पड़ूंगी। क्यों भाई, क्या तुम्हें रमणियों की दुर्बलता ही विदित है, उनका साहस तुमने नहीं सुना।' मणिमाला योद्धा-वेश में तक्षक के साथ घटना-स्थल पर जाती है और उसके साथ वह भी बन्दिनी होती है।

मणिमाला के जीवन का प्रणय-प्रसंग बड़ा मनोहर है। तपोवन में जनमेजय से उसकी प्रथम भेंट होती है और उसकी 'उदारता व्यंजक मनोहर मूर्ति, तथा 'तेजोमय मुखमण्डल' उसके अन्तःकरण में एक तरह की गुदगुदी' पैदा कर देता है। जनमेजय उसका आतिथ्य तो नहीं ग्रहण करता, किन्तु उसके 'पवित्र सौन्दर्य्य-पूर्ण मुख-मण्डल' से प्रभावित हो उस 'नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता' है। इस प्रकार दोनों के हृदय में प्रणय का अंकुर समान रूप से एक ही समय में प्रस्फुटित होता है। वीरत्व व्यंजक सौन्दर्य रतिभाव को पुष्ट करने में सहायक होता है। मणिमाला आगे चलकर जनमेजय की इस छवि पर अपना सम्पूर्ण हृदय हार बैठती है। जनमेजय सैनिकों के साथ आकर नागों को भगाते हुए अश्व छुड़ा ले जाते हैं। उसी समय मणिमाला का प्रवेश

होता है वह जनमेजय के युद्धोत्साह पूर्ण वीरत्व व्यंजक सौन्दर्य का पुनः साक्षात्कार कर एकाकी अपना प्रणय-भाव मुखरित करती है—"क्या ही वीर-दर्प से पूर्ण मुख श्री है! प्रणय-वृक्ष, तू कैसे भयानक पानी से टकराने वाले कगारे पर लगा है।" मणिमाला और जनमेजय का परिणय-सम्बन्ध केवल राजनैतिक और सांस्कृतिक ऐक्य का ही सूचक नहीं है, वरन् वह दो सच्चे प्रणय-पूर्ण हृदयों का यथार्थ सम्मिलन है।

नाटक की नायिका मणिमाला है। वह नायक के प्रतिपक्षी की कन्या है। उसके जीवन का अधिकांश विकास-क्रम नाटक में प्रदर्शित है। नाटक के अधिकांश आदर्श-करुणा, विश्वप्रेम, आतिथ्य, सेवा, विपक्ष-रक्षा युद्धोत्साह आदि उसके चरित्र में वर्तमान हैं। नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत ही नायक के साथ उसका प्रणय प्रसङ्ग प्रारम्भ होता है और संघर्ष के बाद नायक को उसकी प्राप्ति होती है। यद्यपि नाटक में संघर्ष उसकी प्राप्ति के लिए ही नहीं है फिर भी वह नायक को प्रतिपक्षी से संघर्ष की शान्ति स्वरूप ही मिलती है। यद्यपि वपुष्टमा नायक की परिणीता भार्या है किन्तु उसका नायक के साथ जीवन-सम्बन्ध नाटकीय वातावरण से पूर्व का है, और उपर्युक्त अनेक विशेषताओं का उसमें अभाव है, अतः वह नायिका नहीं मानी जा सकती।

वपुष्टमा

आर्य महिषी वपुष्टमा का चरित्र शान्त, उदार और निर्वैर भावापन्न है। आर्यों और नागों के संघर्ष में उसका कोई सक्रिय भाग नहीं है। वह एक सती नारी की भाँति अपने पति की कल्याण कामना में सदैव मग्न रहती है और संघर्ष के परिणामों से सदैव सशंक रहती है। वपुष्टमा अपनी एक सखी से इसी भाव को व्यक्त करती है—"उद्विग्न! प्रमदा, मेरा हृदय बहुत ही उद्विग्न हो रहा है। मेरा चित्त चंचल हो उठा है। भविष्य कुछ टेढ़ी रेखा खींचता हुआ दिखाई दे रहा है।"

वपुष्टमा उदार और न्यायप्रिय भी है। वह उत्तंक को अपने अति प्रिय एवं बहुमूल्य मणिकुंडल सहर्ष प्रदान करती है। सरमा की न्याय की पुकार सुनकर वह द्रवित हो उठती है और अपने पति जनमेजय से कहती है—"आर्य्यपुत्र! न्याय कीजिए। नारी का अश्रु जल अपनी एक-एक बूँद में बड़िया लिए रहता है।" सरमा ने जब अपना रहस्य प्रकट करते हुए यह बताया कि "मैंने अपनी इच्छा से नाग-परिणय किया था" तब वपुष्टमा उसके प्रति अनादर पूर्ण शब्दों का प्रयोग करती है—"छीः आर्य्य-ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।" वपुष्टमा के उक्त कथन में जातीय मर्य्यादा का भाव है। मानवता की दृष्टि से चाहे उसका यह कथन त्रुटि-पूर्ण माना जाय किन्तु मर्य्यादा की दृष्टि से उसे हम इसके लिए दोषी नहीं ठहरा सकते। नाटककार ने सरमा से वपुष्टमा द्वारा उक्त कथन के लिए क्षमा याचना कराकर उसकी हीनता प्रदर्शित की है। सरमा के मुख से उसके उक्त कथन को सिंहासन का आवेश बताया है, किन्तु उस पर यह आरोप समीचीन नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति देश काल

की मर्य्यादा से नियन्त्रित है। वपुष्टमा यदि सरमा को मर्य्यादा-भंग के लिए लाञ्छित करती है तो वह देश-काल-सम्मत है।

वपुष्टमा में मर्य्यादा का ध्यान केवल दूसरों की आलोचना ही के लिए नहीं है प्रत्युत वह अपने जीवन के परम संकट काल में भी आत्म-मर्य्यादा के लिए ही विशेष आकुल दिखाई पड़ती है। नाग लोग उसे मूर्छित दशा में उठाकर लेजाते है। संज्ञा प्राप्त होने पर वह अपने जीवन के लिए चिन्तित नहीं होती है वरन् वह आत्म मर्य्यादा की भावना से सरमा से कहती है—"किन्तु बहन, मैं तो किसी ओर की नहीं रही सम्राट की इच्छा क्या होगी, कौन जाने। आर्य्यावर्त भर में यह बात फैल गई होगी कि साम्राज्ञी—" वपुष्टमा की पवित्रता के लिए व्यास के प्रमाण देने पर ही जनमेजय उसे स्वीकार करता है?

वपुष्टमा अपने पति की कल्याण-भावना से सापत्न्य संताप सहने के लिए स्वयं अग्रसर होती है। वह सरमा द्वारा प्रस्तावित मणिमाला के विवाह का समर्थन करती है और स्वयं उसका हाथ जनमेजय को पकड़ाती हुई कहती है '*यह निर्मल कुसुम तुम्हारे समस्त सन्ताप का हरण करके मस्तक को शीतल करे।*' *वपुष्टमा का समस्त चरित्र सात्विक भाव-सम्पन्न* है, और वह भारतीय सती नारी के सर्वथा अनुरूप है।

दामिनी

यौवन की मदिर आकांक्षाओं मे उन्मत्त दामिनी विषय वासना की मृगतृष्णा मे पथभ्रष्ट हो इधर-उधर भटकती फिरती है। वह गुरुकुल के आचार्य वेद की धर्मपत्नी है किन्तु इसे अपने पद और मर्यादा का भी ध्यान नहीं रहता है और वह बारम्बार अपने पति के शिष्य उत्तंक पर अनुरक्त हो जाती है। वह विलास-पूर्ण विभ्रमों द्वारा उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करती है। जूड़े मे माला लगवाने तथा मणिकुण्डल पहनाने के व्याज से वह उत्तंक का अंगस्पर्श कर उसे कामोत्तेजित करना चाहती है। किन्तु उत्तंक उसके कलुषित प्रेम का प्रतिदान नही करता। दामिनी 'आत्मघात सदृश मनोनिग्रह नहीं कर सकती है।' वह वासना के अतिरेक मे निलज्ज भी हो जाती है। उसका पति उसकी दुश्चेष्टाओं को लक्षित कर लेता है और उसकी भर्त्सना करता है—'दामिनी! मैंने तेरी दुर्बलता और उत्तंक का चरित्र-बल अपनी आंखों से देखा है। तुझे लज्जा नही आती कि मैंने उस त्रुटि की पूर्ति के लिए तुझे जो अवसर दिया, वह तूने खो दिया!' दामिनी अपने पति की इस कठोर निन्दा की किंचित परवाह नहीं करती है। वह उत्तंक के सामने अपनी वासना का नग्नचित्र ही उपस्थित करती है—'तो चले जाओगे? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हू कि—'

प्रेम का प्रतिदान न होने पर नारी का हृदय ईर्षा-प्रेरित हो प्रतिशोध के लिए तत्पर हो जाता है। वह जिस वेग से प्रेम-पथ पर अग्रसर होती है, प्रेम के न प्राप्त होने पर उससे दूने वेग से ईर्षा जनित प्रतिशोध के लिये कटिबद्ध हो जाती है। दामिनी की भी यही दशा है। उत्तंक से तिरस्कृत होने पर वह उससे प्रतिशोध लेने के लिए निकल पड़ती है।

पहिले तो वह माणवक को अपने साथ में लेना चाहती है पर उसके अस्वीकार करने पर वह स्वयं तक्षक के यहाँ जा पहुँचती है। वह तक्षक से, जनमेजय के यहाँ उत्तंक के जाने का रहस्य बताकर उसके सर्वनाश के लिए उसे उत्तेजित करती है। इस प्रकार दामिनी वासना और ईर्षा के अंधड़ में पड़कर क्रमशः स्थान भ्रष्ट होती जाती है। उसे अपनी इस पतितावस्था का अनुभव तक्षक के यहाँ नागकुल में होता है। वहाँ पर नागों की कुटिलता और क्रूरता देखकर उसे अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। उसका विवेक जाग्रत होने पर वह देखती है—"मनुष्य जब एक बार पाप के नागपाश में फँसता है, तब वह उसी में और भी लिपटता जाता है। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरंभ में सुखी होने लगता है। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नए नए रूपों पर आसक्त होना पड़ता है।"

विवेक के जाग्रत होने पर दामिनी आत्मसंयम द्वारा आत्मोद्धार का प्रयास करती है। वह अपने हृदय का सम्पूर्ण साहस बटोर कर अश्वसेन को उसकी कामुक चेष्टाओं के कारण फटकारती है—"हटो, अश्वसेन मेरा मानस कलुषित हो चुका है, पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है। उसे दूषित न होने दूँगी—चाहे प्राण चले जाये। × × × ×" दामिनी निर्भीकता पूवक अश्वसेन को दुत्कार कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है, और अपने पति के पास पुनः आकर आत्म-अपराधों के लिए क्षमा माँगती है। माणवक भी उसकी सच्चरित्रता की साक्षी देता हुआ वेद से क्षमा करने का आग्रह करता है—"आर्य! क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि यह स्त्री आचारत पवित्र और शुद्ध है।"

दामिनी की मानसिक दुर्बलता यौवन के प्रथम आवेग से तथा कुछ परिस्थिति-जन्य भी है। वेद ने वृद्धावस्था में दामिनी का पाणिग्रहण किया, और 'युवती स्त्री को छोड़कर योंही परदेश में समय बिताने लगे।'

अतएव इन्द्रियों की प्रबलता को दामिनी नहीं दमन कर सकती। चंचलता और रूपमोह उसमें परिस्थितिजन्य दुर्बलताएँ हैं। यौवन के प्रादुर्भाव होने से वह अपनी वेशभूषा और सजावट के लिए उत्सुक दिखाई पड़ती है। शीला के साथ इस विषय पर एक लम्बी वार्तालाप के बाद उसे अपनी इस दुर्बलता का ज्ञान होता है।

दामिनी के चरित्र की यह एक विशेषता है कि उसे अपने दुर्गुणों एवं दुर्बलताओं का ज्ञान हो जाने पर वह उनका तत्काल परिहार करती है। इससे उसका व्यक्तित्व गिरकर भी ऊँचे उठ जाता है। वह अपने इस उन्नत व्यक्तित्व के प्रभाव ही से उत्तङ्क ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति को नागयज्ञ से विरत कर देती है। उत्तङ्क अपने गुरुदेव के आग्रह की उपेक्षा करता है पर वह दामिनी के प्रत्यक्ष दृष्टान्त के समक्ष सिर झुका देता है।

दामिनी का चरित्र-विकास स्वाभाविक है। उसकी स्वभावज दुर्बलताएँ परिस्थितियों से टकरा कर दूर हो जाती हैं और उसका प्रकृत नारीत्व प्रस्फुटित हो जाता है। दुर्बलताओं पर विजय पाना ही मानव-जीवन की सफलता है।

व्यास

व्यास महात्मा हैं। वे दिव्यदृष्टि-सम्पन्न भूत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञाता हैं। साथ ही वे विश्वकल्याण के इच्छुक हैं और नाटक के अधिकांश प्रधान पात्रों को कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित करने वाले हैं। जनमेजय, आस्तीक, मणिमाला, शीला, सोमश्रवा सब उनकी शरण में जाते हैं। वे इन सभी को उनके भविष्य का संकेत देकर कल्याण-मूलक सत्कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। नाटक के अन्तिम दृश्य में व्यास के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। वे नागयज्ञ रुकवाकर आस्तीक का आवेदन जनमेजय से स्वीकार कराते हैं। व्यास के साक्षी देने पर जनमेजय अपनी घर्षिता महिषी वपुष्टमा को पुन ग्रहण करता है। ब्राह्मण मण्डली और जनमेजय के बीच सौमनस्य व्यासदेव की कृपा से ही पुन. प्रतिष्ठित होता है। जनमेजय ब्राह्मणों से क्षमा मांगते हैं और ब्राह्मण लोग उसे आशीर्वचनों से सन्तुष्ट करते हैं। इस प्रकार नाटक के अन्तिम दृश्य में व्यास के प्रभावशाली एवं समादृत व्यक्तित्व से सभी विषमताएँ दूर होती हैं।

व्यास उच्च दार्शनिक हैं। नियतिवाद का मूलमन्त्र व्यासदेव से उद्घोषित होता है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म में एक अदृष्ट शक्ति का हाथ सदैव रहता है, वही नियति कही जाती है। मानव अपने कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है "अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य्य कराती है।" अतः उसे भविष्य के लिए आकुल न होना चाहिए; जो हो रहा है उसे होने देना चाहिए। व्यास की यह दार्शनिक विचार धारा मानव मस्तिष्क ग्राह्य है। मन को प्रकृतिस्थ रख कर शुद्धबुद्धि से कार्य्य करते रहने पर मनुष्य अवश्य कल्याण का भागी होता है। व्यास के समस्त उपदेशों का सार यही है।

सोमश्रवा और शीला

ब्राह्मण दम्पति सोमश्रवा और शीला सात्त्विक भाव-सम्पन्न हैं। शुद्धबुद्धि की प्रेरणा से विश्वकल्याण के लिए निष्काम कर्म करना उनका जीवनलक्ष्य है। सोमश्रवा जनमेजय की पुरोहिती अर्थ लोभ से नहीं वरन् याज्ञिक क्रियाओं को विधिवत् कराने की दृष्टि से स्वीकार करता है। उनके इस कार्य्य का समर्थन उस समय के महर्षि च्यवन और महात्मा वेदव्यास मुक्तकण्ठ से करते हैं। सोमश्रवा राजपुरोहित होकर भी अपने विचार स्वातन्त्र्य और कर्त्तव्य-ज्ञान का त्याग नहीं करता। धर्म के विरुद्ध कोई कार्य्य होने पर पुरोहिती छोड़ देने की प्रतिज्ञा करके ही वह राज-पुरोहित होना स्वीकार करता है। अवसर पड़ने पर वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है। नागयज्ञ के विधान में आचार्य बनना वह अस्वीकार करता है। वह खुले शब्दों में कहता है—"शास्त्र के विरुद्ध कोई नया नियम बनाने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। नरबलि का यह घातक कार्य्य मुझसे न होगा।" सोमश्रवा के इस कथन से विचार-स्वातन्त्र्य के अतिरिक्त उसकी निर्भीकता भी प्रकट होती है।

सोमश्रवा में ब्राह्मणोचित विनय और क्षमाशीलता है। जनमेजय प्रमादवश ब्राह्मणों को निर्वासन दण्ड देता है। काश्यप के अपराध से उत्तेजित हो निर्दोष ब्राह्मणों को इस प्रकार दण्डित करना जनमेजय का जघन्य अपराध है। किन्तु सोमश्रवा इससे रुष्ट होकर शाप नहीं देता। जनमेजय का विवेक जागृत होने पर जब वह ब्राह्मणों से क्षमा माँगता है तब सोमश्रवा के नायकत्व में समस्त ब्राह्मणमण्डली उसे आशीर्वचनों से सन्तुष्ट कर देती है। निस्सन्देह काश्यप ने अपने कलुषित कर्मों से ब्राह्मणकुल पर जो कलंक-कालिमा पोती, सोमश्रवा अपने सात्विक आच-

रणों द्वारा उसे खो देता है।

शीला सोमश्रवा की धर्म पत्नी है। वह पति के मांगलिक कार्य्य, अग्निहोत्र आदि में सहयोग देकर उसके अनुकूल ही सर्वत्र आचरण करती है। वह आर्य्य-ललनाओं की भाँति अपने पति के सत्कार्यों में सहकारणी है। शीला भावुक है। उसे अपनी सखियों से बड़ा प्रेम है। मणि-माला से तो उसकी अभिन्न मित्रता है। वह जिस प्रकार उसके साथ हास्य-विनोद में योग देकर हृदय को मुकुलित करती है उसी प्रकार उस पर संकट आने पर उसके साथ अपना जीवन अर्पण करने को भी वह प्रस्तुत हो जाती है। जनमेजय, तक्षक के साथ, मणिमाला को भी यज्ञ-कुण्ड में डाल कर जला देना चाहता है। शीला भी अपनी सखी के साथ जलने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। वह भरी सभा में ललकार कर कहती है—'बहन मणिमाला, मैं तुम्हारे साथ हूँ। यदि तुम्हें जलावेंगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ जलूंगी।"

शीला मानों दामिनी का प्रतिरूप है। दामिनी विषयवासना की मृगतृष्णा में जगह-जगह टकराती फिरती है। शीला अपने पति की सच्ची अनुगामिनी है, वह 'आर्य्य ललनाओं के समान ही अपने पति के सत्कर्मों में सहकारिणी' है। दामिनी को वस्त्राभूषणों से विशेष मोह है। वह यज्ञशाला में कुलललनाओं और राजकुल की स्त्रियों के बीच उन्हीं के समान सजधज कर जाना चाहती है। किन्तु शीला समझती है—'स्त्रियाँ विशेष शृङ्गार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता भी खो बैठती हैं।" अतः वह 'सरलता, हृदय की पवित्रता, और स्वच्छता' को ही स्त्रियों के लिए वाञ्छित मानती है। दामिनी को शीला के सात्विक हृदय और पावन व्यक्तित्व के समक्ष सिर झुकाना पड़ता है। शीला और सोमश्रवा का चरित्र आदर्श रूप में अंकित है।

———

राज्यश्री

'राज्यश्री' नाटक में राज्यश्री का चरित्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उसके चरित्र में पतिपरायणता, साहस, दृढ़ता, आत्मगौरव, एवं उदारता आदि विविध गुणों का निदर्शन होने से वह सबकी श्रद्धा का सहज आकर्षणरूप है। चरित्र-गौरव एवं विस्तार की दृष्टि से वही नाटक की नायिका है।

नाटकीय मंच पर राज्यश्री का सर्वप्रथम आविर्भाव एक पतिपरायण आदर्श आर्य्य नारी के रूप में होता है। वह अपने शंकाकुल एवं चिन्ता-ग्रस्त पति के हृदय को अपनी साहस तथा सान्त्वनापूर्ण वाणी द्वारा प्रकृतिस्थ करने का प्रयास करती है। वह ग्रहवर्म्मा से कहती है—"नाथ, आप जैसे धीर पुरुषों को—जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शान्त है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती हैं? *कभी नहीं!*" जब ग्रहवर्म्मा *मृगया* के लिए सीमान्त के जंगलों की ओर चले जाते हैं तब राज्यश्री पति की मंगल कामना निरन्तर करती हुई देवोपासना' दान आदि विविध कार्यों में प्रवृत्त होती है। उसका अधिकांश समय पति की चिन्तना में ही व्यतीत होता है।

राज्यश्री के चरित्र में क्षत्रियोचित साहस स्वाभिमान एवं वीरत्व का पर्य्याप्त निदर्शन है। शांतिभिक्षु के द्वारा भिक्षा न लेने के कारण यद्यपि राज्यश्री का कोमल नारी-हृदय भावी अमङ्गल की कल्पना से कातर एवं व्यथित हो जाता है किन्तु वह सीमाप्रान्त में पति के साथ छिड़ने वाले युद्ध समाचार से अधीर अथवा चञ्चल नहीं होती। प्रत्युत वह मंत्री से कहती है—"मंत्री, इसी बात को कहने में आप सकुचित होते थे। *क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ समाचार कौन होगा!* आर

प्रबन्ध कीजिए, मैं निर्भय हूँ।"

इसी प्रकार उपासना गृह में देव-प्रतिमा के पीछे से शांतिभिक्षु के हँसने के कारण यद्यपि वह विक्षिप्त सी हो जाती है किन्तु देवगुप्त के आगमन का समाचार सुनते ही वह साहस पूर्वक कहती है—"जाओ उन्हें सादर लिवा लाओ।" देवगुप्त के सामने आते ही वह सच्ची क्षत्राणी के अनुरूप उसपर दृढ़ता के साथ शस्त्र-चालन करती है। वह देवगुप्त के आधीनस्थ होने पर भी उसके समस्त ऐश्वर्य सुख के प्रलोभनों को ठुकरा कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है। देवगुप्त के समक्ष वह जिस निर्भीकता एवं दृढ़ता का परिचय देती है वह दर्शनीय है। वह देवगुप्त से कहती है—"तुम देवगुप्त ? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो—मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ। एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस !"

राज्यश्री के व्यक्तित्व में आत्मगौरव का अभाव नहीं है। वह शत्रु एवं मित्र सभी के समक्ष उसकी रक्षा के लिए सतत सचेष्ट है। घोर विपत्तियों के वात्याचक्र में पड़कर उसे आत्मगौरव विस्मृत नहीं होता। अपने चिर-शत्रु देवगुप्त के समक्ष तो प्राणों की बाजी लगा कर वह आत्मगौरव की रक्षा के लिए सन्नद्ध दिखाई पड़ती है। देवगुप्त को मानों खुली चुनौती देती हुई कहती "बस मैं सचेत हूँ देवगुप्त ! मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है। मैं तुम्हारा वध न कर सकी तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती ?" राज्यश्री, जीवन की दयनीय दशा में अपना वंश परिचय देने में आत्मगौरव की हानि समझती है। दिवाकर मित्र उसे दस्युओं के साथ विवशताग्रस्त दशा में देखकर उसका परिचय प्राप्त करना चाहता है तो वह कहती है—"जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्ज्वल कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है।"

नाटक में चित्रित राज्यश्री का जीवन विपत्तियों तथा कष्टों की एक करुण कहानी है। उसका पति युद्ध में मारा जाता है। वह देवगुप्त

के बन्दीगृह में अपमान, एवं क्षोभ की दारुण यन्त्रणा में सन्तप्त होती है। उसका भाई राज्यवर्धन उसके उद्धार के प्रयास मे छलपूर्वक मारा जाता है। पुनः दस्युओं के हाथ में पड़कर वह अनाथा की भांति जगह जगह अनिश्चित भाव से घूमती रहती है। जीवन की इस विषाद-पूर्ण एवं दयनीय दशा से उसका हृदय आकुल हो उठता है। वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपनी सखी विमला से कहती है—"वेदना रोम-रोम में खड़ी है, विमला! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचार और इस छोटे से जीवन पर संसार के दिये हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी! औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती।" राज्यश्री दुःख की अतिव्याप्ति से ऊबकर अपने प्राण विसर्जन के लिए अनेक अवसरों पर तत्पर दिखाई पड़ती है। वह दस्युओं से कहती है—"मैं दुखी हूँ, दस्यु! तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं! इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन?" × × × × "तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय।" वह दिवाकर मित्र से कहती है—"दुखों को छोड़ कर और कोई न मुझसे मिला मेरा चिर सहचर! परन्तु अब उसे भी छोड़ूंगी। आर्य मुझे आज्ञा दीजिए। स्त्रियों का पवित्र कर्त्तव्य पालन करती हुई इस क्षण भंगुर संसार से विदाई लूं—नित्य की ज्वाला से, यह चिता की ज्वाला प्राण बचाले।" राज्यश्री के चरित्र की यह महान विशेषता है कि दुःखों की काली घटा से सदैव आक्रान्त रहने पर भी वह सतीत्व एवं आत्मगौरव पर किंचितमात्र आंच नहीं लगने देती और वह इनकी रक्षा के लिए अपने प्राण सदैव हथेली पर रखे प्रत्येक विपत्ति-पूर्ण परिस्थिति का साहस पूर्वक सामना करती है।

राज्यश्री के चरित्र में जहां साहस धैर्य्य दृढ़ता, आत्मनिग्रह आदि विविध गुणों का समावेश है वहां उसमें उदारता निदर्शन भी अपनी चरमावस्था पर है। राज्यश्री प्रारम्भ ही से अत्यन्त उदार है। वह भिक्षुओं को नित्य अन्न वस्त्र का दान देती है। कोई याचक विमुख होकर नहीं

जाता दानप्रकरण में शान्तिभिक्षु के इस आचरण से वह क्रुद्ध नहीं होती वरन वह पूर्ण शान्ति एवं गम्भीरता से उसे जीवन का आदर्श पथ सदुपदेश द्वारा दिखाकर कहती है—यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूं; निश्चिन्त उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हू ।"

एक लम्बे कष्टमय जीवन के पश्चात भाई हर्षवर्धन से मिलने पर जब राज्यश्री पुनः शक्ति एवं वैभव सम्पन्न हो जाती है तब भी वह अपनी सहज उदारता का परित्याग नहीं करती। वह अपने भाई के हत्यारे नरेन्द्र को क्षमा करने का अनुरोध करती हुई हर्षवर्धन से कहती है—"फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है। भाई जाने दो। आज हम लोग दान देने चल रहे हैं, क्षमा करो भाई।" विकटघोष सदृश नीचकर्मा एवं दुर्दान्त मनुष्य जिसने उसके एक भाई की हत्या की, दूसरे भाई पर प्राणान्तक शस्त्र चलाया एवं उसे भी यातनाओं के गहरे समुद्र मे घसीट कर डाल दिया, उसके प्रति भी उसकी प्रतिहिंसा नही प्रदीप्त होती और वह उसे भी हर्ष वर्धन से क्षमा करा देती है।—"आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई! आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई।"

राज्यश्री का चरित्र हिमालय सदृश उच्च एवं सागर सदृश गम्भीर है। प्रवंचना, प्रतारणा, छल, विद्रोह, हत्या आदि की भीषण आंधियाँ उसके सर पर से निकल जाती हैं पर वह अपनी मर्य्यादा मे अटल है। उसके इसी महत्वपूर्ण जीवन का प्रभाव शत्रु मित्र सब पर समान रूप से पड़ता है और वे भी उसकी पतित पावनी चरित्र-मन्दाकिनी में अवगाहन कर निर्विकार अथच निर्मल हो जाते हैं। 'प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करने वाला' हर्ष 'राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास' करता है और आगे चलकर शत्रुओं को अपना प्राणदान तक करने के लिए प्रस्तुत होता है। शान्तिभिक्षु मन को संयत कर तथा उसके आदेशानुसार

श्लाघा और आकाँक्षा का पथ छोड़ कर सच्चा भिक्षु बनता है। विलास एवं वैभव की तृष्णा में दर दर की ठोकरें खाने वाली सुरमा अपने प्रायश्चित्त के लिए उसकी शरण आती है और चित्त-शुद्धि-पूर्वक काषाय ग्रहण करती है। महा श्रमण सुएनच्वाँग स्वयं उसके चरित्र की महानता से अभिभूत है।——"सर्वस्व दान करने वाली देवी ! मैं तुम्हें कुछ दूं—यह मेरा भाग्य। तुम्हीं मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश में सुनाऊं—" निस्सदेह ऐसी ही सती नारियों ने भारत का मस्तक संसार में सदा ऊंचा रक्खा है।

राज्यश्री में चरित्र की महानता होते हुए स्त्रियोचित स्वभाव की एक दुर्बलता है। शान्तिभिक्षु दान ग्रहण नहीं करता अतएव वह स्त्री—स्वभावानुसार चिन्ताकुल हो जाती है। जब वह प्रतिमा के ऊपर पुष्पाँजलि चढ़ाती है, शान्तिभिक्षु पीछे से उठाकर हंस देता है। राज्यश्री इस रहस्य को न समझकर मूर्छित हो जाती है और स्वभाविक दुर्बलतावश नानाचिन्ताएं उसे आक्रान्त कर कुछ समय के लिए विक्षिप्त सा बना देती हैं।

राज्यश्री की इस स्वभाव—दुर्बलता से उसके चरित्र की महानता में किञ्चित अन्तर नहीं पड़ता वरन् वह भूतल की आदर्श रमणी प्रतीत होती है। शायद उसमें यदि यह स्वभाव की दुर्बलता न होती तो उसका चरित्र हमारी दृष्टि में काल्पनिक प्रतीत होता और सर्व साधारण की पहुँच के बाहर होता। 'प्रसाद' ने निस्सन्देह, उसके पूर्ण नारीत्व में आदर्श सती का चित्र अंकित किया है।

सुरमा

कान्यकुब्ज देश की मालिन सुरमा एक साधारण रमणी होते हुए भी स्वास्थ्य और सौन्दर्य से समन्वित तथा विलास और वैभव की मदिर आकांक्षाओं से, आरम्भ ही से, अनुप्राणित है। उसकी महत्वाकांक्षापूर्ण विलास-भावना का परिचय, उसके नाटक में प्रवेश करते ही, प्राप्त हो जाता है। वह शान्तिभिक्षु से कहती है। "विश्वास करो ! मैं आजीवन किसी राजा की विलास मालिका बनाती रहूँ"—ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूँ। मेरे प्राणों की भूख, आँखों की प्यास, तुम न मिटाओगे ?"

सुरमा, स्वभाव से चचल एवं विवेकहीन है। रूप और यौवन की भावना में उन्मत्त, वह अपने विलासमय मदिर नेत्रों से अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की बाह्य आकृति और कपटपूर्ण उक्तियों का वास्तविक स्वरूप नहीं पहिचान पाती अत. वह अपनी उद्दाम वासनाओं की आँधी में अनिश्चित भाव से इधर उधर भटकती रहती है। सुरमा, शान्तिभिक्षु को अपने विलास-पाश में बाँधना चाहती है किन्तु वह उसके द्वारा अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति सम्भव न समझ उसे छोड़कर चला जाता है। सुरमा अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में स्थिर नहीं रहती।

सुरमा के उपवन में मालवनरेश देवगुप्त के प्रवेश के साथ उसके जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। देवगुप्त विलासी एवं प्रवंचक है। वह सुरमा के रूप और यौवन से प्रभावित हो उसकी ओर आकृष्ट होता है और थोड़ी बातचीत के उपरान्त वह सुरमा के मनोभावों का अध्ययन कर लेता है। सुरमा बालव्यजन बनाती हुई पेड़ की छाया में बैठे हुए देवगुप्त की ओर कनखियों से देखती है। वह देवगुप्त के साथ

बातचीत करती हुई निरन्तर उसकी ओर आकृष्ट होती जाती है और उसे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती रहती है। देवगुप्त का साहस बढ़ जाता है। वह सुरमा की रचना और स्वरूप की चाटुकारिता कर उसके प्रति अपना उत्कट आकर्षण व्यक्त करता है।—"अरे तुम्हारा बाल-व्यजन भी बन गया; कितना सुन्दर है! उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है—जिन्होंने इसे बनाया।" सुरमा इसके प्रत्युत्तर मे आप तो बड़े धृष्ट हैं ''''तो अब मैं जाती हूं।' कहकर अपने कृत्रिम रोष और खीझ तो व्यक्त करती है, किन्तु इसके अन्तर मे उसके प्रति उसका विलासयुक्त अनुरागभाव छलकता है। वह कृत्रिम रोष प्रदर्शन के उपरान्त ही अपनी पुष्प—रचना लेकर इठलाती हुई जाती है।

सुरमा और देवगुप्त में प्रकृतिसाम्य है। दोनों ही महत्वाकांक्षी और विलासी हैं। दोनों ही कौशल पूर्वक आपस में एक दूसरे पर अपना प्रभाव आरोपित करते हैं। सुरमा एक ओर हाव-भाव के प्रदर्शन से अपना रूपजाल देवगुप्त के समक्ष फैलाती है दूसरी ओर वह अपनी निम्न एवं अभावपूर्ण स्थिति के प्रति उसके समक्ष बारम्बार क्षोभ व्यक्त कर उसकी सहानुभूति प्राप्त करना चाहती है। वह देवगुप्त से कहती है—"कष्ट! ओह! कष्टों का तो अभ्यास हो गया है। अभी राज-मन्दिर से हो आई।''' मैं उन विभव-विलास के प्रदर्शनों को, उपकरणों को अपनी दरिद्रता की हँसी उड़ाते देखती हुई, लौट आई हूँ।" छद्मवेषी कामुक देवगुप्त को उसके विषय में इस निर्णय पर पहुँचते देर नहीं लगती कि "कितनी भावनामयी यह युवती है—अवश्य इसके हृदय में महत्व की आकांक्षा है।" वह सुरमा को अपने कार्य्य का उपयुक्त साधन एवं भोग की अनुकूल सामग्री समझ कर उसे अपनी विशेष विश्वासपात्री बनाता है। वह उस पर अपना सम्पूर्ण रहस्य प्रकट कर उसे अपना बना लेता है। सुरमा इस आकस्मिक भाग्योदय पर आश्चर्य चकित हो जाती है। वह कहती है—"हे भगवान्! इतना बड़ा सौभाग्य! नहीं यह मेरे अदृष्ट का उप-

हास है।" इस भाग्योदय के प्रखर आलोक में शान्तिभिक्षु की स्मृति प्रभात-दीप की भांति सहसा सजग होकर कुछ समय के लिए, नितान्त सुप्त हो जाती है। वह सहसा देवगुप्त के समक्ष ही कह उठती है— 'परन्तु शान्तिभिक्षु की प्रतीक्षा।' सुरमा प्रत्यक्ष सुख को ठुकरा कर एक काल्पनिक जीवन के पीछे पड़ने वाली नहीं है। शान्तिभिक्षु के प्रति उसके प्रणय में स्थायित्व नहीं है। अत: वह उसे कुछ काल के लिए बरबस भुला देती है।

कान्यकुब्ज में देवगुप्त के साथ सुरमा का विलास एवं वैभव युक्त जीवन उसके लिए परम आह्लादकारी है। विलास उपकरणों की प्रचुरता तथा देवगुप्त की चाटुकारिता में सुरमा आत्मविभोर हो जाती है। वह देवगुप्त से कहती है—"कितनी मादकता इस प्रशंसा में है, प्रियतम! मुझे अपना स्वरूप विस्मृत होता जा रहा है। मेरा यह सौभाग्य ·····" 'यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की छलकती हुई प्याली, सुरमा कल्पनातीत जीवन को प्रत्यक्ष देखकर आश्चर्य सिन्धु में डूबती उतराती सी है—— "मैं कहाँ हूँ ? यह उज्ज्वल भविष्य कहाँ छुपा था ? और यह सुन्दर वर्तमान, इन्द्रजाल तो नहीं ? (देवगुप्त का हाथ पकड़कर)—क्या यह सत्य है ?" आशातीत सुखों की आकस्मिक प्राप्ति आश्चर्योत्पादक होती है। नाटककार ने सुरमा के चरित्र में उसी मानसिक दशा का परम स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण किया है।

देवगुप्त के साथ सुरमा का सुखी जीवन बालुका-भीत के समान है। घटना-प्रभंजन के एक झोंके में ही वह भूमिसात हो जाता है। शान्तिभिक्षु की एक ही हुंकार को सुनकर देवगुप्त, सुरमा के बाहुपाश से निकल भागता है। सुरमा विवशता पूर्वक शान्ति भिक्षु का पल्ला पुनः पकड़ती है। उसके साथ उसे न तो विलास-सुख की ओर न वैभव की ही प्रचुर प्राप्ति होती है। दस्युराज शान्तिभिक्षु उपनाम विकटघोष के साथ निरन्तर दस्युजीवन व्यतीत करते हुए, हत्या और लूट का अमानुषिक कर्म

देखते और उसमें यथावसर योग देते हुए, सुरमा को उस जीवन से क्रमशः विरक्ति होने लगती है। वह अपनी एक स्वगतोक्ति में अपनी इसी मानसिक दशा को व्यक्त करती है—" ....मैं कहाँ चल रही हूँ, वही जीवन, किन्तु वह धीर धारा न रही! ठठा कर हँसना, नाचते हुए—स्थिर जीवन में एक आन्दोलन उत्पन्न कर देना, नहीं, यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा। राज्यश्री को देखती हूं, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है—पता चलता है कि मैं कहाँ हूँ!'

हृदय के इस सात्विक परिवर्तन के पश्चात् सुरमा शुद्ध-चित्त से आत्मापराधों के लिए दण्ड-याचना करने के लिए राज्यश्री और हर्ष के समक्ष जाती है। राज्यश्री अपनी पुनीत करुण-निर्झरिणी से उसे अभिषिक्त करती है और फिर उसे काषाय पहना कर उसे जीवन के श्रेय-पथ का पथिक बना देती है।

सुरमा का जीवन परिवर्तनपूर्ण है। वह जीवन के अनेक उतार चढ़ाव पार करती हुई श्रेय-पथ का अवलम्बन प्राप्त करती है। किन्तु उसके जीवन का प्रत्येक परिवर्तन स्वाभाविक दिशा की ओर है। उसकी वैभव और विलास की आकांक्षा संस्कारजन्य अवश्य है, किन्तु वह अपने प्रणय-भाव में सर्वथा स्थायित्वहीन नहीं है। शान्तिभिक्षु की उपेक्षा से विवश होकर ही वह देवगुप्त के आश्रय में आती है। देवगुप्त भी जब उसे नितान्त निराश्रित दशा में छोड़ देता है तभी वह शान्तिभिक्षु का पल्ला पकड़ती है। उसमें एक यह भी विशेषता है कि वह जिसके आश्रय में रहती है उसकी वह पूर्ण विश्वासपात्री सिद्ध होती है और उसका अनुगमन वह यथार्थ रूप में करती है। देवगुप्त उसके स्वाभाव की इसी विशेषता को लक्षित कर उससे अपना रहस्य व्यक्त करता है और शान्तिभिक्षु उसे राज्यवर्धन की हत्या में अपनी सहकारिणी बनाकर ले जाता है।

—※—

शान्तिदेव उर्फ विकटघोष

शान्तिदेव 'राज्यश्री' नाटक का एक असाधारण पात्र है। वह महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर संसार में वैभव और यश प्राप्त करने के लिए अपनी उच्च एवं सुदृढ़ स्थिति से क्रमशः नीचे की ओर आता जाता है और उसमें क्रूरता, कठोरता स्वार्थान्धता आदि पूर्ण रूप से अधिष्ठित हो उसके व्यक्तित्व को—वेश और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे—समाज विरोधी बना देते हैं।

शान्तिदेव का पिता उसे प्रारम्भ से ही भिक्षु-संघ में धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए भेज देता है। किन्तु उसकी संस्कार जन्यमनोवृत्तियां उक्त जीवन के विपरीत हैं। उसमें भिक्षु जीवन के उपयुक्त आत्मसंयम का अभाव है तथा श्लाघा और आकांक्षा के पथ पर अग्रसर होने के लिए उसके हृदय में आतुर अभिलाषा है। बुद्धि के अपरिपक्व होने के कारण उसमें निर्णयात्मक शक्ति का भी अभाव है। वह स्वयं कहता है—"मूर्ख मैं निश्चय नहीं कर पाता सुरमा या राज्यश्री—मेरे जलते हुए ग्रह-पिण्ड के भ्रमण का कौन केन्द्र है।"

जीवन के प्रथम वेग में शान्तिदेव को केवल रूप का मोह ही आकर्षित नहीं करता। वह रूप के साथ वैभव प्राप्ति की अभिलाषा से सुरमा को भुलावा देकर राज्यश्री के समक्ष अपनी भाग्य परीक्षा देने जाता है। राज्यश्री के अप्रतिम व्यक्तित्व के समक्ष असफल होने पर वह नियति के हाथों में अपने को सौंप देता है—'अच्छा जो नियति करावे।'

मनुष्य विवेक-भ्रष्ट होकर जब एक बार कुमार्ग पर चलने को सोच लेता है तो उसके चरित्र का क्रमशः पतन होता जाता है। नाटककार ने शान्तिदेव के चरित्र में इस तथ्य का निरूपण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से

किया है। शान्तिदेव अर्थलाभ के लिए भिक्षु से दस्यु बन जाता है। अर्थ-लोलुपता उसे नर से नरपिशाच बना देती है। वह अर्थ-लोभ से राज्यश्री के अपहरण की चेष्टा करता है, राज्यवर्धन की हत्या करता है, सुएनच्वांग भिक्षु यात्री को मार्ग में लूटने का प्रयत्न करता है और अन्त में अपना सर्वस्वदान करने वाले हर्षवर्धन पर भी वह हाथ साफ करना चाहता है। उसकी निर्दयता कठोरता आदि पाशव वृत्तियाँ उसमें क्रमश बढ़ती ही जाती हैं। हत्या और लूट उसके लिए प्रयत्न–साध्य नहीं रहते वरन् उसके स्वभावधर्म बनजाते हैं। उनमें उसे आनन्द की अनुभूति होती है। वह सुरमा से कहता है–"अबतो मैं रक्त देख कर अत्यन्त प्रसन्न होता हूं" उसकी आकृति भी उसके आचरणों के अनुरूप हो जाती है। नरेन्द्रगुप्त उसे देखकर तत्काल कहता है—"स्पष्ट रक्त और हत्या का उल्लेख तुम्हारे ललाट पर है।"

शान्तिदेव केवल अपने सुख और उन्नति का अभिलाषी है। आत्मोन्नति एवं सुख के लिए वह सब कुछ करने को तय्यार रहता है। विकटघोष नामधारी दस्यु शान्तिदेव स्वयं कहता है—"सच बात तो यह कि मुझे अपने सुख के लिए सबकुछ करना अभीष्ट है।" वह पतन के मार्ग पर एक बार पैर रखकर उसकी सीमा तक जाने को प्रस्तुत हो जाता है। वह सुरमा से कहता है—"पतन की सीमा तक चलें, सुरमा बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। × × × × यदि कुछ ऐसा कर सकूं कि वह (संसार) मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही।" शान्तिदेव आगे चलकर सुरमा से अपने इसी मनोभाव की पुष्टि में कहता है–"अब शील संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहां तक बढ़ आने पर लौटना असम्भव है।" शान्तिदेव के इन कथनों में उसके मन की पतनोन्मुख दशा तथा निम्नकोटि की मनोवृत्तियों की ओर उसका वेगपूर्ण प्रवाह व्यक्त होता है। वह जीवन के महत्त्वपूर्ण निश्चय के अनुसार आचरण करता हुआ अपने समय का महान आतंककारी एवं समाजशत्रु सिद्ध होता है।

शान्तिदेव का चरित्र अधिकांश में पतनोन्मुख तो अवश्य है किन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि वह जिस दस्युवृत्ति को अपने जीवन में ग्रहण करता है उसके अनुरूप उसमें कार्य-पटुता साहस एवं दृढ़ता है तथा इसके साथ ही उसकी आकृति एवं शारीरिक गठन, कार्य-सिद्धि में उसके सहायक हैं। उसके लम्बे चौड़े हाथ पैर और कर्कश कण्ठ, दस्यु समाज को उसके दस्युराज होने की प्रतीत करा देते हैं। उसकी 'भयानक दाढ़ी और बिच्छू की डंक सी मूंछ, मालवराज सहचर मधुकर को भयविकम्पित कर देती है और वह, शान्तिदेव उपनाम विकटघोष की कार्य-सिद्धि में विवशतापूर्वक सहायक हो जाता है।

शान्तिदेव निर्भीक और साहसी है। वह दस्युदलकी वार्ता को अर्धसुप्तावस्था में सुनकर अपना कर्तव्य निर्धारित कर लेता है अपनी वाक्चातुरी से दस्युदल का अधिनायक बन जाता है। अनुभवी सेनापति भण्डि भी उसकी साहसपूर्ण वार्ता से प्रभावित हो उसे पंचनद गुल्म में सम्मिलित कर लेता है। शान्तिदेव के पुरुषार्थी व्यक्तित्व को पहिचान कर नरेन्द्रगुप्त उसे अपने कार्य-साधन का उपयुक्त पात्र निर्धारित करता है। उसमें कार्य-कुशलता और पुरुषार्थ पूर्ण उन्नत अवस्था में हैं। संस्कारवश उनका उपयोग वह आदर्श विरोधी मार्ग में करता है।

शान्तिदेव के जीवन का अन्तिम परिवर्तन आकस्मिक है। हर्ष-वर्धन के प्राण लेने की चेष्टा में असफल होने पर तथा बन्दी हो जाने पर आत्मग्लानि उसे सहसा आक्रान्त कर लेती है। वह हठात् चिल्लाने लगता है—"मेरे वध की आज्ञा दीजिए। ओह! प्राण जल रहे हैं रोम-रोम से चिनगारियां निकल रही हैं.........दण्ड! दण्ड! हे भगवान।" शान्तिदेव के उक्त कथन के पूर्व राज्यश्री की क्षमाशीलता और हर्षवर्धन की उदारता का निदर्शन है और नाटककार ने आदर्शों की प्रभविष्णुता व्यक्त करने के लिए ही मानो शान्तिदेव में आकस्मिक परिवर्तन चित्रित

किया है। किन्तु वह मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल नहीं प्रतीत होता। यश एवं वैभव की आकांक्षा से पतन की चरम सीमा तक दौड़ लगाने वाला तथा हत्या और लूट से नित्य मनोरंजन करने वाला व्यक्ति जीवन की एक ही ठोकर लगने पर एकदम विवेकयुक्त और सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न हो आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति करने लगे, यह सामान्य जीवन में अनहोनी सी बात है।

देवगुप्त

मालव-नरेश देवगुप्त कामुक, और कुचक्री है। वह कान्यकुब्ज में ग्रहवर्मा की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर षड्यन्त्र द्वारा उसे हस्तगत कर लेता है। छद्मवेष में अपने बहुसंख्यक साथियों सहित किसी अरक्षित स्थान पर पहुँच कर उसे आकस्मिक आक्रमण द्वारा आत्मसात करलेना क्षत्रियोचित वीरता के प्रतिकूल है। वह स्थाणीश्वर और कान्यकुब्ज दोनों को एक साथ ही ध्वस करने की डींग तो अवश्य हाँकता है किन्तु उक्त कार्य-सम्पादन की न तो उसमें यथेष्ट शक्ति है और न साहस ही।

देवगुप्त के चरित्र मे विलासिता और कामुकता का निदर्शन विशेष है। वह कान्यकुब्ज मे कौशल मे राज्य प्राप्त करने आता है। किन्तु एक सामान्य मालिन सुरमा के सौन्दर्य पर अनुरक्त हो उसे वह अपनी प्रणयिनी बना लेता है। उसका यह कार्य उसकी राजकीय प्रतिष्ठा के सर्वथा विपरीत है। उसकी विलास-भावना सुरमा को ही अपनाकर सन्तुष्ट नहीं होती। वह राज्यश्री को भी अपने भोग की सामग्री बनाना चाहता है। सुरमा के प्रति देवगुप्त का प्रेम केवल रूप-मोह प्रेरित है। वह सुरमा के समक्ष अपने विलासी हृदय का परिचय देता हुआ कहता है—'तुम यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की छलकती हुई प्याली हो—पागल न होना ही आश्चर्य है।' वह युद्ध और संघर्ष को आसन्न देखकर भी सुरा और सुन्दरी के सेवन द्वारा कालयापन करता है,—"आज सुरमा! अच्छी तरह पिला दो। कल तो मुझे भयानक युद्ध के लिए प्रस्तुत होना है। तुम कितनी सुन्दर हो सुरमा!" देवगुप्त के इस कथन से उसकी घोर विलासी प्रकृति का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।"

देवगुप्त क्रूर और कायर है। राज्यश्री जब उसके घृणित प्रणय-

प्रस्ताव को ठुकरा देती है तब वह उसे बन्दी-गृह मे डलवा देता है। विकटघोष की हुंकार पूर्ण एक ही घुड़की से देवगुप्त के देवता कूच कर जाते हैं और वह सुरमा को निराश्रित दशा में ही छोड़ कर भाग खड़ा होता है। राज्यवर्धन के साथ द्वन्द्व-युद्ध मे उसका पराजित होकर मृत्यु प्राप्त करना आश्चर्योत्पादक नहीं है। देवगुप्त का चरित्र आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है अत. उसका अन्त तदनुसार स्वाभाविक है।

हर्षवर्धन

अन्तिम भारतीय सम्राट हर्षवर्धन के जीवन का आंशिक चरित्रांकन 'राज्यश्री' नाटक में है। चरित्र—विस्तार के अभाव में उसे हम नाटक का नायक तो सर्वथा नहीं स्वीकार कर सकते किन्तु नाटक के अन्य पुरुष पात्रों की अपेक्षा हर्षवर्धन के चरित्र में ही नाटककार ने अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा अधिक मात्रा में की है। उसके चरित्र में वीरता एवं उदारता का सुष्ठु सामञ्जस्य है। विदेशी आक्रमणकारी हूणों को विताड़ित कर समस्त उत्तरापथ को वह अपने आधीनस्थ करता है। वह दक्षिणापथ विजय करने के लिए अग्रसर होता है किन्तु उसे वीर चालुक्य के समक्ष आंशिक पराजय मिलती है और वह चालुक्य नरेश पुलकेशिन से सन्धि करके प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानी में लौट आता है। हर्ष की राज्य विस्तार भावना अधिकार सुख प्रेरित नहीं है। वह हत्या और लूट के व्यवसाय द्वारा अपना कोष भरने वाला नहीं है। वह अपने दिग्विजय में भारतीय आदर्श को ही सामने रखता है। पुलकेशिन के समक्ष वह इसी बात को बड़ी सरलता और स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है—' मुझे साम्राज्य की सीमा नहीं बढ़ानी है।" वह राज्य विस्तार की अपेक्षा शासन सुव्यवस्था को राजधर्म का प्रमुख अंग मानता है। उसकी यह निश्चित धारणा है कि—"यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ—राजधर्म पालन कर सकूं तो; कृतकृत्य हो जाऊंगा।" फिर भी मगध सम्राटों की दुर्बलता से अरक्षित उत्तरापथ को हूणों से रक्षा करना तथा कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक और काश्मीर से लेकर रेवा तक एक सुव्यवस्थित राष्ट्र की स्थापना करना, उसके प्रबल पराक्रम और वीरत्व के परिचायक हैं। उसकी वीरता की सराहना उसके विरोधी भी करते हैं। पुलकेशिन स्वयं कहता

है—"उत्तरापथेश्वर अभी मुझे अपनी वीरता की परीक्षा देनी है, क्यों कि विदेशी हूणों को विताड़ित करने वाले महावीर हर्षवर्धन के अस्त्र का आज ही सामना है।"

हर्षवर्धन की उदारता उसकी वीरता से भी अधिक महत्वपूर्ण है। राज्यश्री के सम्पर्क में आने से उसका समस्त वीरोन्माद दूर हो जाता है तथा प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करने वाला हृदय नवनीत की भाँति निर्मल और कोमल होजाता। इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन की लघुता का मान होने पर तो वह 'राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास' करने के लिए कटिबद्ध होजाता है। राज्यश्री की अपूर्व उदारता क्षमाशीलता एवं तात्विक बुद्धि के समक्ष उसे नतमस्तक होकर अपना भ्रम स्वीकार करना पड़ता है। हर्षवर्धन के चरित्र में वैराग्य की प्रतिष्ठा आकस्मिक नहीं है सात्विक वृत्तियों के बीज उसके हृदय में संस्कारजन्य रूप में हैं। पुलकेशिन के समक्ष उसकी वार्तालाप में ही उनका आभास प्राप्त होजाता है। राज्यश्री के पावन व्यक्तित्व की छाया में उनका सम्यक स्फुरण और विकास होता है। शस्त्रबल एवं पराक्रम से प्राप्त समस्त राजकीय सम्पत्ति और ऐश्वर्य पात्रों को लौटाकर हर्षवर्धन भारत-सम्राट के पद से भी बढ़कर भारत-हृदय-सम्राट पद को प्राप्त करता है। अपूर्व त्याग, उदारता और दानशीलता से विदेशी यात्री सुएनच्वांग अत्यन्त प्रभावित होता है और वह मुक्तकंठ से उसकी सराहना करते हुए कहता है—"यह भारत का देव दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट! मुझे विश्वास होगया कि यही अमिताभ की प्रसव भूमि हो सकती है।"

राज्य-सुख के प्रति पूर्ण वैराग्य भाव के जाग्रत होने पर भी हर्षवर्धन में न्यायबुद्धि एवं लोक-सेवा भाव का सर्वथा लोप नहीं होता। श्रमण के प्राण लेने के षड्यन्त्र का समाचार पाते ही वह भावुकता प्रेरित उदारता का परित्याग कर विवेकाश्रित न्याय-बुद्धि का आश्रय लेता है और तुरन्त आज्ञा देता है—"आओ डौंडी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा।" इसी प्रकार समस्त दान करने के उपरान्त वह लोक-सेवा एवं धर्मराज्य का शासन करने के लिए ही राजमुकुट और वस्त्र ग्रहण करता है।

राज्यवर्धन

राज्यवर्धन अपनी वंश-परंपरा के अनुरूप पराक्रमी, साहसी, ऊर्जस्वित एवं प्रभावशाली है। कार्य्यतत्परता और आत्मविश्वास की दृढ़ भावना से वह कोई कार्य्य असाध्य नहीं समझता। वह अपनी धुन का पक्का है। आत्मीय मौखरी ग्रहवर्मा की छलपूर्वक हत्या और उनके राज्य पर षड्यन्त्र द्वारा अधिकार करने वाले के प्रति उसका सहज वीर दर्प सचेष्ट हो उठता है, और उक्त अन्याय का प्रतिकार करने के लिए वह समस्त साधनों को एकत्रित कर कटिबद्ध हो जाता है। जब तक कार्य्य सिद्धि नहीं होती तब तक उसका चित्त स्थिर नहीं होता। वह नरेन्द्र गुप्त से कहता है—'अपने इन दुर्वृत्त बैरियों से बदला लेना और तुरन्त दण्ड देना मेरे जीवन का प्रथम कार्य्य है। अपने बाहु-बल से प्रतिशोध न लेकर चित्त को सन्ताप देना मेरा काम नहीं।" राज्यवर्धन का पराक्रम और रण-कौशल उसके स्वभाव एवं उक्तियों के अनुरूप है। वह पचनद से हूणों को विताड़ित करता है और उदितराज को आधीनस्थ करता है। गौड़ेश्वर नरेन्द्र उसकी वीरता और पराक्रम से आतंकित हो बाह्य रूप से उससे मैत्री रखता है। मालव-नरेश देवगुप्त की नीचता का अंत उसकी एक टक्कर से ही होजाता है। राज्यवर्धन महोदय दुर्ग को घेर कर द्वन्द्व-युद्ध में देवगुप्त को मार डालता है। राज्यवर्धन में आत्मविश्वास प्रचुर रूप में है। साहस और पराक्रम के लिए आत्म-विश्वास परम आपेक्षित गुण है। वह नरेन्द्र से कहता है—"राज्यवर्धन वह राख की ढेर नहीं, जो शत्रु-सुख के पवन से धधक न उठे। यह ज्वाला है, उत्तरापथ को जलाकर शान्त होगी।"

राज्यवर्धन वीर होने के साथ ही उदार भी है। किन्तु उसकी

उदारता ही उसकी प्राणघातक सिद्ध होती है। दुर्नाम नीच नरेन्द्र आनन्दोत्सव में राज्यवर्धन को निमन्त्रित कर विकटघोष एवं सुरमा द्वारा छलपूर्वक उसकी हत्या करवा देता है। वस्तुतः जीवन के प्रथम भाग में राज्यवर्धन के पराक्रम एवं ऊर्जस्विता देखकर उसके उज्ज्वलतम भविष्य की कल्पना सहज ही होजाती है। नाटक में अंकित उसका चरित्र यद्यपि परिमाण में अत्यल्प है किन्तु वह अत्यन्त सजीव एवं प्रभावोत्पादक है।

चन्द्रगुप्त

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है। वह अत्यन्त धैर्यवान, साहसी, पराक्रमी, वीर और उदार है। उसके चरित्र का विकास नाटक में बड़े क्रम से हुआ है। कुल-मर्य्यादा की रक्षा के लिए वह धैर्य और उदारता पूर्वक अपना सर्वस्व त्याग और बलिदान करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। वह अपने समस्त बाह्य और आन्तरिक विरोधियों पर विजयी होता है। नाटक के अन्त में उसको सम्पूर्ण नाटकीय फल—राज्य और नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी—की प्राप्ति होती है। अत: चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक है।

गुप्त-वंश के गौरव-रक्षा की भावना चन्द्रगुप्त के अन्दर सर्वोपरि है। पारिवारिक कलह मिटाने के लिए वह आरम्भ में पिता द्वारा दिए हुए उत्तराधिकार की उपेक्षा कर देता है और अपने भाई रामगुप्त को सरलता से उस पद पर प्रतिष्ठित हो जाने देता है। इतना ही नहीं वरन् वह अपनी वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी के वरण के लिए भी बलप्रयोग नहीं करता। सहोदर के प्रति इतना बड़ा त्याग उसके उच्च शील और अनुपम धैर्य का परिचायक है।

चन्द्रगुप्त केवल पारिवारिक शान्ति का उपासक नहीं है; वरन् वह कुल-कीर्ति का भी सतत अभिलाषी है। अतः जब उसे कुल-कीर्ति अस्थिर होती प्रतीत होती है तथा राजनैतिक शान्ति के नाम पर कुल-गौरव एवं नारी—सम्मान के समर्पण की बात उसके सामने आती है तो उसका पुरुषार्थ, पराक्रम, स्वाभिमान और ममत्व, सभी सजग हो उठते हैं और तभी उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होता है। वह ध्रुवस्वामिनी से पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहता है—"यह नहीं हो सकता! महादेवि!

जिस मर्य्यादा के लिए—जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राज-दण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया उसका यह अपमान ! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित होना न पड़ेगा।"

एक बार कर्तव्य निर्धारित कर उसपर आरूढ़ रहने और अग्रसर होने की निर्भीकता और क्षमता चन्द्रगुप्त में पर्याप्त है। वह रामगुप्त के सामने ही शिखर स्वामी को ललकारता है—'अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है, कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय ! क्यों यही तो विनय की पराकाष्ठा है ! ऐसा विनय प्रवञ्चकों का आवरण है जिसमें शील न हो।' कर्तव्य पथ पर आरूढ़ हो वह लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रत्येक सम्भव उपाय का अवलम्ब लेने मे नहीं हिचकता। वह ध्रुवस्वामिनी के कृत्रिम वेश में शकराज के अन्तःपुर मे प्रविष्ट हो जाता है और वहा अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर वह शत्रु को ललकारता है—"मैं हूं चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल ! मैं अकेला आया हू, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने के लिए।" ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के साथ शकराज के यहां चरम प्रतिकार के लिए जाती है किन्तु चन्द्रगुप्त को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए ध्रुवस्वामिनी की किञ्चित अपेक्षा नहीं है। वह उसके विरोध को ठुकरा कर ही उसके साथ वहां जाती है। कुल सम्मान-रक्षा की तरह नारी-सम्मान रक्षा के लिए वह सदैव कटिबद्ध रहता है। पराक्रमी और शक्तिसम्पन्न होते हुए भी वह अपने भाई रामगुप्त की आज्ञा के अनुसार अपने को लौह-शृंखलाबद्ध तो करवा लेता है किन्तु उसी परवशता में जब उसके समक्ष ध्रुवस्वामिनी का खुला अपमान होने लगता है—वह बन्दी की जाने लगती है; तब चन्द्रगुप्त के विनय और धैर्य्य का बाँध टूट जाता है और वह लौह-शृंखलाओं से अपने को मुक्त करता हुआ अन्यायियों को ललकारता है। वह शिखरस्वामी से कहता है—"तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ।" वह

रामगुप्त को भी न्याय के लिए पुकारता है—"आज तुम राजा नहीं हो। तुम्हारे पाप प्रायश्चित्त की पुकार कर रहे हैं। न्यायपूर्ण निर्णय के लिए प्रतीक्षा करो और अभियुक्त बनकर अपराधों को सुनो।"

चन्द्रगुप्त स्वभावतः गम्भीर और शान्तिप्रिय है। शकराज को पराजित करने के बाद भी वह राजनीतिक प्रपञ्चों मे नहीं पड़ना चाहता, और वह बिना अपने अधिकारों की माँग किए चुपचाप हट जाना चाहता है। वह राजत्याग के रूप मे प्रदर्शित अपनी अनुपम उदारता का पुरस्कार बन्दी की-सी दशा प्राप्त करता है; 'प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है', किन्तु वह उससे विचलित नहीं होता। वह वस्तुतः कुल-मर्यादा एवं नारी के सम्मान की रक्षा के लिए ही संघर्ष मे पड़ता है। यह उसके चरित्र की एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है, कि जितना ही वह शान्त, गम्भीर और उदार है, वह अवसर पड़ने पर उससे कहीं अधिक निर्भीक वक्ता, कठोर नियामक और दृढव्रती हो जाता है।

चन्द्रगुप्त का अभ्यन्तर जिस प्रकार उदात्त गुणों का अधिष्ठान है, उसी प्रकार उसका बाह्य भी मनोहर और कमनीय है। वह ध्रुवस्वामिनी की दृष्टि में '*निरभ्रप्राची का बाल अरुण*' है। उसका '*विश्वासपूर्ण मुखमण्डल*' सभी को अपनी ओर आकृष्ट करने की सहज क्षमता रखता है। उसके शारीरिक सङ्गठन की सुडौलता और सुन्दरता को लक्षित कर ही हिजड़ा उसे स्त्री—वेश धारण करने के लिए सर्वोपयुक्त समझता है। वेश परिवर्तन करने पर तो शकराज भी उसको नहीं पहचान पाता।

ध्रुवस्वामिनी के प्रति चन्द्रगुप्त का प्रेम प्रथम साक्षात्कार के समय से है। स्वभाव में अत्यन्त गम्भीर होने पर भी वह एक स्थल पर अपना मनोभाव प्रकट ही कर देता —"मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक डाल दिया था ......।" ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के रूप और गुणों के कारण उससे प्रभावित है और हृदय से उसी को चाहती है। दोनों में जिस प्रकार रूप और

गुणों की समता है उसी प्रकार दोनों की स्थिति और जीवन-विकास का क्रम भी एक ही से हैं। दोनों ही राज्यचक्र में एक साथ पिसते हैं, दोनों ही एक साथ मृत्यु-गह्वर में प्रवेश करने के लिए जाते हैं और अन्त में दोनों ही एक साथ अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर जीवन में सुख, शान्ति और सौभाग्य प्राप्त करते हैं। दोनों की ही दुःख-सुख की दशाओं में समान स्थिति है। जीवन के आरम्भ में कष्टपूर्ण परिस्थिति का कारण चन्द्रगुप्त का अतिशय विनयाचरण और उदारता है। विनय के आतिशय्य से वह अपनी वास्तविकता भी नहीं व्यक्त करता। परिस्थितियों से विवश होकर वह स्वयं सोचता है—"नहीं, यह शील का कपट, मोह और प्रवञ्चना है! मैं जो हूँ वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका यह कैसी विडम्बना है।" अनीति के अतिचार से जब वस्तुस्थिति नितान्त विपरीत दिशा की ओर जाती हुई प्रतीत होती है तभी चन्द्रगुप्त अपने वास्तविक स्वरूप को ग्रहण कर राज्य-अधिकार और ध्रुवस्वामिनी प्राप्त करता है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र में नाटककार ने व्यक्तित्व की वह तीव्र महत्ता नहीं प्रकट की जो ध्रुवस्वामिनी के चरित्र को प्राप्त है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि 'ध्रुवस्वामिनी' एक नायिका प्रधान नाटक है और इस नाते उसकी नायिका ध्रुवस्वामिनी को ओजस्वी व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसके समक्ष अन्य पात्रों का चरित्र-गौरव फीका जंचता है। वस्तुतः नाटक के पुरुष पात्रों में सबसे ओजस्वी व्यक्तित्वपूर्ण चरित्र-विकास चन्द्रगुप्त का ही है और नाटककार को इसमें भी यथेष्ट सफलता मिली है।

रामगुप्त

रामगुप्त नाटक का खल-पात्र है। वह कपटाचरण एवं प्रवञ्चना द्वारा अधिकारी व्यक्ति चन्द्रगुप्त के स्थान पर स्वयं ही गुप्त-कुल के राज-सिंहासन पर अधिष्ठित हो जाता है, और अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ध्रुवस्वामिनी पर अधिकार पा जाता है। नाटक में उसका समस्त कार्य-व्यापार विलासिता, धूर्तता, कायरता और क्रूरता की कुटिल कहानी है। वह उच्च आदर्श हीन है तथा सदैव शिखरस्वामी जैसे धूर्त चाटुकारों के आश्रय से ही अपनी कार्यसिद्धि के उपाय खोजा करता है।

गुप्त-कुल का सिंहासन रामगुप्त अवश्य प्राप्त करता है किन्तु कुल की परम्परागत विशिष्टताएँ उसमें एक भी नहीं हैं। वह अपना अधिकांश समय सुरा, सुन्दरियों अथवा हिजड़े, बौने, कुबड़े आदिपुरुषत्व विहीन व्यक्तियों के बीच व्यतीत करता है। अन्तःपुर की छलनाओं में पड़ा हुआ, लुक छिपकर बातें तो वह सुनता है पर राज्य के चिन्ताजनक समाचार निवेदित किए जाने की बात सुनकर वह प्रतिहारी को डाँट देता है—"तुमसे मैंने कह न दिया कि अभी मुझे अवकाश नहीं, ठहर कर आना।"

रामगुप्त नितान्त पुरुषार्थ विहीन है। वह दिग्विजय के लिए तो निकलता है पर शकराज द्वारा चारों ओर से घिर जाने की बात सुनकर शत्रु के प्रतिकार की चेष्टा नहीं करता। वह शत्रु के अत्यन्त लज्जाजनक प्रस्ताव को—ध्रुवस्वामिनी के समर्पण को—भी स्वीकार कर लेता है। शत्रु के शिविर में ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को चेष्टापूर्वक भेज कर वह अपनी बड़ी राजनैतिक विजय मानता है। उसकी राजनीति पोच और प्रवञ्चनापूर्ण है। मन्दाकिनी उसकी राजनीति को लक्ष्य करके ठीक ही कहती है—"वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-

छन्द की भूख उठती है।'

चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रति रामगुप्त का व्यवहार बड़ा कृतघ्न और निष्ठुरतापूर्ण है। जिस भाई चन्द्रगुप्त ने उसके लिए राज्यपद और अपनी वाग्दत्ता पत्नी की उपेक्षा कर दी, उसी की हत्या करवाने के लिए वह दिग्विजय का स्वाँग भरता है और अन्त में वह उसे शत्रु-शिविर में बलपूर्वक भेज देता है। शक-शिविर में ध्रुवस्वामिनी के भी जाने की स्पष्ट आज्ञा सुनकर जब चन्द्रगुप्त स्वयं जाना अस्वीकार करता है तो रामगुप्त अधिकारपूर्ण ढङ्ग से उससे वहाँ जाने को कहता है—"नहीं यह मेरी आज्ञा है। सामन्त कुमारों के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।" वह स्वार्थान्ध होकर चन्द्रगुप्त को सदैव शङ्काकुल दृष्टि से देखता है; और ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति सहानुभूति का परिचय प्राप्त करने पर तो वह उसे भी अपने स्वेच्छाचारी मार्ग का रोड़ा समझ, निकाल फेंकना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी की भर्त्सनाएँ और आर्त-पुकार वह बहरे कानों से सुनता है। समस्त नीति, सदाचार, धर्म आदि की बातों को ताक पर रखकर वह बड़ी निष्ठुरतापूर्वक ध्रुवस्वामिनी से कहता है—"नहीं, नहीं। जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो।" रामगुप्त की क्रूरता और निष्ठुरता का वह चरम निदर्शन है, जब वह पराजित निरीह शकों के साथ देवतुल्य मिहिरदेव और कुसुमसुकुमारी कोमा जैसी बालिका की निर्मम हत्या करवा देता है।

धूर्त एवं चाटुकार शिखरस्वामी के अतिरिक्त रामगुप्त का अपना कोई नहीं है। उसे किसी पर विश्वास नहीं है और उसके दुराचरणों के कारण कोई उसे न तो चाहता है और न हृदय से उसका आदर ही करता है। उसकी क्रूरताओं और कदाचरणों से अधीर होकर राज्य के परम विश्वासी अनुचर सामन्तकुमार भी उससे विद्रोह कर बैठते हैं। पुरोहित

उसके पसन्द विहीन कदाचारों की कथा सुनकर उसे 'गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज किल्विषी क्लीव", घोषित करता है। समस्त परिषद् न्यायपूर्ण दृष्टि से उसके कुकृत्यों का निरीक्षण कर उसके विषय में एक मत से निर्णय देता है—"अनार्य पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।"

रामगुप्त की स्वार्थभावना बड़ी प्रबल है और कूटचातुरी में उसकी दुष्ट प्रतिभा बड़ी सचेष्ट रहती है। उसे जैसे ही शक अवरोध की सूचना मिलती है तथा शकराज का प्रस्ताव अवगत होता है, वह तत्काल एक ही चाल से अपने दो विरोधियों—चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी—के अन्त करने और तीसरे शत्रु शकराज को सन्तुष्ट करने की बात सोच लेता है। वह शिखरस्वामी को समझाता है—"शकदूत सन्धि के लिए जो प्रमाण चाहता हो उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने में इस सङ्कट के बहाने जितनी विरोधी प्रकृति है उन सब को हमलोग सहज में ही हटा सकेंगे।" "तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों।"

दुर्नीति और कायरता की नींव पर अवस्थित अधिकार अल्पकालीन होता है। कुटिल नीति भी पुरुषार्थ और पराक्रम सापेक्ष है। रामगुप्त में उसका सर्वथा अभाव है। सभी ओर से अपराधी और निन्दनीय घोषित किए जाने पर जब रामगुप्त की प्रतिशोध भावना उसे चन्द्रगुप्त की हत्या करने को उत्तेजित करती है तब भी वह शूरों के समान प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् वामगति से चन्द्रगुप्त पर प्रहार करने की चेष्टा करता है। वह अपनी इस दुश्चेष्टा में एक सामन्तकुमार द्वारा मार डाला जाता है और इस प्रकार नाटकीय कथावस्तु के साथ उसके जीवन का अन्त आदर्श सम्मत है। नाटक के प्रति-नायक रूप में उसके चरित्र में नायक-विरोधी समस्त दुर्गुणों को चरम उत्कर्ष प्राप्त है।

शिखरस्वामी

शिखरस्वामी गुप्त-कुल का अमात्य है। वह ऐसे उत्तरदायित्व एवं महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होकर भी तदनुकूल व्यवहार नहीं करता। उसकी राजनीतिक प्रतिभा का दुरुपयोग असत्य के समर्थन, प्रवञ्चना, एवं चाटुकारिता के रूप में होता है। वह वस्तुतः रामगुप्त की कुटिल योजनाओं का विधायक तथा उसी के कंठ में कंठ मिलाकर सर्वत्र अनीति तथा अन्यायपूर्ण आचरणों को समर्थन एवं प्रोत्साहन देता है।

शिखरस्वामी सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल राज्यपद प्राप्त करने के लिए रामगुप्त का समर्थन करता है। रामगुप्त की मर्यादा एवं नीति-विरोधी बातों को वह समझ कर भी उसका विरोध नहीं करता। सम्भवतः उसमें आत्मबल का भी अभाव है। शकराज को ध्रुवस्वामिनी को दे देने का निश्चय रामगुप्त से सुन कर वह एक बार दबे स्वर में कहता है—"भविष्य के लिए यह चाहे अच्छा हो; किन्तु इस समय तो हमलोगों को बहुत से विघ्नों का सामना करना पड़ेगा।" किन्तु शिखरस्वामी अपने इस विचार पर दृढ़ नहीं रहता और शीघ्र ही रामगुप्त की कूटनीति को सफल बनाने में संलग्न हो जाता है।

रामगुप्त का पादानुसरण करने के कारण शिखरस्वामी में भी प्रथम के समान ही निर्लज्जता, धूर्तता, कुटिलता आदि हैं। वह ध्रुवस्वामिनी के समक्ष बड़ी निष्ठुर निर्लज्जता के साथ उनके शक-शिविर जाने का बलपूर्वक समर्थन करता है। शिखरस्वामी की "राजनीति की दृष्टि से महादेवी का वहां जाना आवश्यक है।" उसकी "राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। उसके लिए राजा, रानी, कुमार

अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है। किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है।" वह दूसरों को बतलाता है "विनय गुप्त-कुल का सर्वोत्तम विधान है" पर स्वयं यह व्यवस्था देता है कि "महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय।" राजा और राष्ट्र-रक्षा की दुहाई देकर कुल-परम्परा एवं नैतिक आदर्शों के विरुद्ध कार्यों के लिए सम्मति देना शिखरस्वामी जैसे धूर्त और चाटुकार अमात्य का ही कार्य हो सकता है।

शिखरस्वामी में अवसर एवं परिस्थितियों के अनुकूल बात करने की अपूर्व क्षमता है। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त एवं सामन्त कुमारों को एकत्रित एवं उन्हें परस्पर रामगुप्त विरोधी बात करते देखकर वह दर्प द्वारा उन्हें वश में करने की चेष्टा करता है। वह सामन्तकुमारों को डांटकर कहता है—"चुप रहो! क्या तुमलोग किसी के बहकाने से आवेश में आगए हो! (चन्द्र गुप्त की ओर देखकर) कुमार यह क्या हो रहा है?" इसी प्रकार वह पुरोहित को धर्मशास्त्रानुमोदित बात स्पष्ट रूप से कहने के कारण घुड़की देता है—"मैं कहता हूं कि तुम चुप न रहोगे तो तुम्हारी यही दशा होगी।" परन्तु जैसे ही चन्द्रगुप्त बन्धन मुक्त हो होजाता है और विरोधी पक्ष प्रबल दिखाई पड़ता है कि शिखरस्वामी तत्काल चन्द्रगुप्त से बड़े शान्त और विनीत भाव से समझौते की बातें करने लगता है—"कुमार इस कलह को मिटाने के लिए हम लोगों को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए।" वह कुमार को फुसलाने की भरपूर चेष्टा करता है और बड़े कोमल शब्दों में आदर्श व्यवहार की बात कहता है—"बीती हुई बातों को भूल जाने में ही भलाई है। भाई भाई की तरह गले से लगकर गुप्तकुल का गौरव बढ़ाइए।" शिखरस्वामी की ये बातें अवसरवादी हैं और इनसे उसके हृदय की कुटिलता स्पष्टरूप से परलक्षित होती है।

रामगुप्त का चतुर्दिक विरोध होने के साथ ही जब परिषद् भी उसे अपराधी और राज्य-पद का अनधिकारी घोषित करता है तब शिखर-

स्वामी रामगुप्त को समझाने की चेष्टा करता है—"परिषद का विचार तो मानना ही होगा।" वास्तव मे शिखरस्वामी ने नाटक भर मे यही एक यथार्थ बात कही है। किन्तु इसमें भी रामगुप्त के हित की अपेक्षा आत्म रक्षा की चिन्ता ही विशेष लक्षित होती है। शिखर नहीं चाहता कि समस्त राज्य-चक्र के समक्ष वह भी रामगुप्त के साथ अपराधी सिद्ध हो। सम्भवतः उसके इसी एक सत्य-कथन से उसे अपनी दुर्नीति का कुफल रामगुप्त की भाँति नहीं भोगना पड़ता अन्यथा वह भी निस्सन्देह उसी का अधिकारी है।

शकराज

शकराज महत्वाकांक्षी, रणकुशल, एवं कूटनीतिज्ञ है पर साथ ही वह क्रूर, दुर्विनीत एवं विलासी प्रकृति का भी है। उसके चरित्र में दुर्गुणों का ही प्राबल्य है, अतः उसकी सफलताएँ पराजय में परिणित हो जाती हैं।

शकराज अपने पूर्वजों की भाँति अपने पराक्रम द्वारा शत्रुओं को प्रताड़ित कर प्रतिशोध लेने का अभिलाषी है। पराक्रम पुरुषार्थ सापेक्ष है। अपर के अभाव में पूर्व का निदर्शन असम्भव है। शकराज 'पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता' है। वह कहता है कि "पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है।" वह अपने पुरुषार्थ पूर्ण पराक्रम एवं रणकुशलता द्वारा रामगुप्त की समस्त सेना को गिरि पथ पर रोककर चतुर्दिक अवरोध द्वारा उसके शिविर का सम्बन्ध राजपथ से काट देता है। शत्रु को इस प्रकार विवश कर वह अपनी कूटनीति द्वारा शत्रु-पक्ष का धन और जन लेने के साथ ही उसका कुल-गौरव भी हस्तगत करने की योजना प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार एक सेनानी के रूप में वह आंशिक रूप से सफल है।

विलासिता के पङ्क में डूबा हुआ पराक्रम अपना सौन्दर्य खो देता है। इसके साथ ही अनीति के अतिचार से भी पराक्रम महत्वशून्य हो जाता है। शकराज के व्यक्तित्व में विलासिता और अनीति के आधिक्य के कारण उसके पराक्रम का स्वरूप आछन्न हो जाता है। वह सुरा और सुन्दरियों का उपासक है। इतना ही नहीं, वह कोमा जैसी अनुरागिनी बाला की उपेक्षा कर बड़ी अधीरता के साथ ध्रुवस्वामिनी की प्रतीक्षा करता है। ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त को नारी-वेश में देख और उसे यथार्थ में नारी ही मानकर वह ध्रुवस्वामिनी के अतिरिक्त उसको भी

अपनी रानी के रूप में अङ्गीकार करने को प्रस्तुत हो जाता है। शकराज के इन कामुक व्यवहारों को देखने से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उस पर विलासिता का गहरा आवरण है जो उसके पराक्रम को अपनी मोटी चादर में सर्वथा ढक लेता है।

विलासिता की सहजात दुर्वृत्तियाँ भी शकराज के हृदय पर डेरा डाले हैं। वह क्रूर और दुर्विनीत भी है। वह कोमा के प्रेम-पूर्ण अनुरोध को निष्ठुरता के साथ ठुकरा देता है। कोमा की भावुक प्रेमाभिव्यक्तियाँ उसके राजनीतिक प्रतिशोध की भावना से पाषाणीकृत हृदय को किञ्चित द्रवित नहीं करती। वह अपने आचार्य मिहिरदेव के नीतिपूर्ण निर्देशों को सुनना भी नहीं चाहता। वह बड़े दर्प के साथ मिहिरदेव को प्रत्युत्तर देता है—"बस, बहुत हो चुका! आपके महत्व की भी एक सीमा होगी। अब आप यहाँ से नहीं जाते हैं तो मैं ही चला जाता हूँ।" शकराज के इस कथन से उसकी दुर्विनीतता भी प्रकट होती है।

शकराज हृदयशून्य व्यक्ति है। वह कोमा के प्रेम का वास्तविक प्रतिदान नहीं करता। कोमा के प्रति उसका प्रेमव्यवहार स्वार्थ और प्रवञ्चना-पूर्ण है। भोली भाली युवती कोमा को अपने वाग्जाल में फाँसकर वह उसका रूप-रस ही लेना चाहता है। कोमा को पूर्णतया अपने वश में कर लेने पर वह अन्य नारी की कामना करता है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप एकनिष्ठता को तो वह मानों पहिचानता ही नहीं है।

विलासी और दुराचारी हृदय दुर्बल, भीरु और संशयालु हो जाता है। पुरुषार्थ की डींग हाँकने वाला तथा सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता के भय मानने वाला शकराज विलासिता और दुराचार के पथ पर चलने के कारण धूमकेतु के दर्शनमात्र से ही भयभीत हो जाता है। वह अमङ्गल की शान्ति के लिए आचार्य को बुलवाकर उनके कथनानुसार चलने की प्रतिज्ञा करता है तथा कोमा से भी क्षमा प्रार्थना करता हुआ, उसकी सहायता की याचना करता है। निस्सन्देह उसके जीवन की यह दशा बड़ी

उपहासास्पद और दयनीय है।

दुराचरण मनुष्य को समस्त गौरवविहीन कर उसके सर्वनाश का पथ ही प्रशस्त करता है। शकराज के जीवन में यह बात पूर्णतया घटित होती है। वह पुरुषार्थ-मद से मदान्ध होकर नीति, सदाचार और सदाशयता को जब तिलाञ्जलि दे देता है तभी उसके पराक्रम का गौरव और सफलता उससे एक साथ कोसों दूर भाग जाती है और वह सर्वनाश के महान अन्धगर्त में सदा के लिए जा पड़ता है। चन्द्रगुप्त द्वारा उसका वध उसकी दुर्नीति एवं दुष्प्रवृत्तियों का चरम प्रतिकार है।

———

मिहिरदेव

आचार्य मिहिरदेव की महिमामयी तेजस्वी मूर्ति का साक्षात्कार नाटक मे एक ही स्थल पर विशेष रूप मे होता है। किन्तु फिर भी दार्शनिक बुद्धि से उसकी जीवन-परख, निर्भीकता एवं उसका सरल प्राकृतिक जीवन-अनुराग उसके व्यक्तित्व की अमिट छाप को सामाजिकों के हृदय पर डाल जाते हैं।

मिहिरदेव आचार्य है। वह केवल नाम का ही आचार्य नहीं है वरन् उसमें सूक्ष्म दार्शनिक बुद्धि, सदाशयता, सिद्धान्त कथन की स्पष्ट-वादिता और स्वतन्त्र निर्भीकता है। उसे राज्य सम्पर्क प्राप्त है किन्तु उसे राज्याश्रय की अपेक्षा एवं आकांक्षा नहीं है। वह शकराज के द्वारा धर्माचार्य के रूप में सम्मानित है। अत: वह उसे बड़ी स्पष्टता के साथ नीतिमय उपदेश देता है—"राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षणभर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो। परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है। शकराज! दो प्यार करने वालों के हृदय के बीच एक स्वर्गीय ज्योति का निवास है।" उसके कथनों में पाण्डित्य, जीवन की परख और निर्भीक मुखरता है। वह ललकार कर शकराज से कहता है—"सावधान होकर उसके परिणाम को सोच लो।" शकराज के व्यवहारों से ज्योंही वह यह अनुभव करता है कि उसे उससे सहानुभूति न मिलेगी वह तत्काल प्रकृति के निर्मुक्त अङ्क में उसकी शाश्वत उपासना के लिये प्रस्तुत हो जाता है। वह कोमा से कहता है "हम लोगों को लताओं वृक्षों और चट्टानों से

छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से बाहर चल।"

सरल जीवन में ही दार्शनिक बुद्धि का बहुधा उदय और प्रसार होता है। भारतीय प्राचीन दार्शनिक ऋषियों का जीवन वृत्त इसका उदाहरण है। वाल्मीकि, व्यास, पातञ्जलि आदि भारतीय ऋषि प्रकृति की शान्त गोद में बैठे हुए मानव-जीवन का दर्शन कर उसकी गुत्थियाँ सुलझाते थे। मिहिरदेव आर्य्य ऋषि तो नहीं है पर नाटककार ने उसके रूप में ऋषि-जीवन की ही मानों एक झलक दिखाई है। मिहिरदेव के हृदय की विश्रान्ति का स्थल प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र है। वहीं सम्भवतः उसकी दार्शनिक बुद्धि पल्लवित और विकसित होती है। प्रकृति के लिए उसके हृदय में मानों एक अतृप्त लालसा और सरल जीवन के लिए अखण्ड अनुराग है। वह अपनी पालिता पुत्री कोमा से कहता है—"हमलोग अखरोट की छाया में बैठेंगे—झरनों के किनारे, दाख के कुञ्जों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूंगा।"

मिहिरदेव ऐसे सात्त्विक विचार और आचरण वाले पुरुष का जीवनान्त बड़ा ही दुःखद और शोचनीय स्थिति में हो जाता है। वह कोमा के साथ ध्रुवस्वामिनी के पास शकराज का शव लेने जाता है। वहीं से लौटते हुये, मार्ग में रामगुप्त के आदेश से उसके सैनिक कोमा और मिहिरदेव को शक जाति का होने के नाते क्रूरतापूर्वक मार डालते हैं। कोमा, मिहिरदेव की पालिता पुत्री है। उसपर उसका सहज अनुराग है। उसकी कामना-पूर्ति में मिहिरदेव का शरीर अर्पण कर देना उसके व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देता है। परमार्थ-हित आत्म-बलिदान मानव-जीवन को गौरव प्रदान करता है। इस नाते मिहिरदेव का व्यक्तित्व पूर्णतया गौरव-मण्डित है।

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' रूपक का नामकरण नायिका के नाम पर है। नाटक की अधिकांश घटनाएँ उसी के जीवन का प्रत्यक्षीकरण कराती हैं, तथा नाटक के अन्य प्रमुख पात्र चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, शकराज आदि द्वारा उसके चरित्र के विविध स्वरूपों का उन्मेष होता है। उसके चरित्र का विकास-क्रम स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति पर है। व्यापार-बाहुल्य की दृष्टि से भी उसका चरित्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। नाटक की फलभोक्ता भी ध्रुवस्वामिनी है। अत इस नायिका-प्रधान नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी ही है।

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में नारी स्वभाव की कोमलता और सहिष्णुता के साथ ही नारी की आत्मसम्मान-भावना का उत्कृष्ट निदर्शन है। एक ओर जहाँ उसमें पुरुष जाति की स्वार्थप्रेरित क्रूरताओं एव कठोरताओं के सहन करने की अपूर्व क्षमता है वहीं उसके साथ ही, आत्मगौरव की रक्षा के लिये, प्रखर बुद्धि-वैभव, निर्भीकता और साहस भी उसमें यथेष्ट रूप से है। नाटक के आरम्भ में ही ध्रुवस्वामिनी को हम नितान्त सङ्कटापन्न दशा में देखते हैं ध्रुवस्वामिनी की प्रथम स्वगतोक्ति में उसकी विषादपूर्ण बाह्य एवं आभ्यंतर परिस्थियों तथा तज्जन्य चिन्तनाओं का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण है। उसे राजकुल में अपने लिए प्रवेशकाल से ही सर्वत्र 'सशंक नीरव अपमान' लक्षित होता है। उसे राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन' नहीं मिलता। उसके लिए जिधर देखो 'कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरे' मनुष्य ही हैं। उसका पति रामगुप्त उसके प्रति सदैव संशयालु रहता है और कभी भी उससे सम्भाषण तक नहीं करता। ध्रुवस्वामिनी अपनी अपूर्व सहिष्णुता से जीवन की इन विषम-

ताओं का धैर्यपूर्वक सामना करती है। उसके हृदय की तीव्र भावुक आकांक्षाएँ अकुलाकर मानों सो जाती हैं।

ध्रुवस्वामिनी के जीवन की इस दयनीय दशा के मूल में उसके दाम्पत्य जीवन की विषमता है। उसका पति रामगुप्त विलासी, मद्यप और क्रूर है। वह ध्रुवस्वामिनी को विविध यातनाओं के बन्धन में डाल कर उसके बहुमूल्य जीवन की कदर्थना करता है। निस्सन्देह जिस सहिष्णुता, धैर्य और त्याग-भावना से ध्रुवस्वामिनी जीवन की इन विषमताओं का सामना करती है वह सर्वथा सराहनीय है और इससे उसके व्यक्तित्व के प्रति सामाजिकों की सहानुभूति स्वतः समुद्भूत होती है।

ध्रुवस्वामिनी शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणाओं को तो धैर्य और साहस के साथ सहन कर लेती है, किन्तु जब वह यह अनुभव करती है कि उसका आत्मसम्मान एवं सतीत्व दूसरे के पास उपहार स्वरूप, भेजा जा रहा है, तो उसका आत्म-गौरव सहसा सजग हो उठता है। ऐसे कदर्थनीय प्रस्ताव को सुनकर वह एक बार पुन. रामगुप्त से अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करती है—"मेरी रक्षा करो मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा आज, मैं शरण की प्रार्थिनी हूं। .... मैं तुम्हारी होकर रहूंगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को—बहुतसी रानियां और स्त्रियां मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।" निष्ठुर रामगुप्त उसकी इस आर्तवाणी को सुनकर भी सुनना नहीं चाहता तथा उसे शकराज के पास भेज देने के सङ्कल्प की दृढ़ता प्रकट करता है। अतः ध्रुवस्वामिनी के पास आत्मबल एवं आत्म-निर्भरता के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी स्थल पर नाटककार ने आत्म-गौरव की भावना से प्रदीप्त ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व का वह भव्य स्वरूप प्रस्तुत किया जो नारी जगत के लिए एक गर्व की वस्तु है। वह रामगुप्त को तत्काल ही फटकार कर कहती है—"निर्लज्ज! मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई भी रक्षक नहीं?

नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीतल-मणि नहीं हूं। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय ऊष्ण और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है उसकी रक्षा मैं ही करूंगी।" एक बार परिस्थितियों का यथार्थ अनुभव कर जब वह आत्म-गौरव की रक्षा के लिए अपना कर्तव्य पथ निर्धारित कर लेती है तब वह बड़े साहस और बुद्धिमत्ता के साथ उसपर निर्भीक भाव से आगे बढ़ने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। वह पहिले तो छुरी मार कर आत्म-हत्या द्वारा अपने गौरव की रक्षा करने का विचार करती है किन्तु चन्द्रगुप्त के सहसा सामने आजाने के कारण वह उस कठोर कर्म से विरत हो जाती है। चन्द्रगुप्त को सामने देखकर उसके हृदय का मधुर भाव पुन: सजग होकर उसमें जीवन मोह उत्पन्न कर देता है तथा आत्म-कौशल और बुद्धि-बल से वह विषम स्थितियों का सामना करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। चन्द्रगुप्त यद्यपि स्वयं अकेले ही शकराज के यहां ध्रुवस्वामिनी के वेश में जाना चाहता है किन्तु ध्रुवस्वामिनी एक क्षत्राणी के समान मृत्यु की विभीषिका से किंचित भी न डरती हुई स्वयं भी जाने को तय्यार हो जाती है। वह बड़े उत्साह पूर्ण शब्दों में चन्द्रगुप्त से कहती है—"हम दोनों ही चलेंगे मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय, मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ और भी एक विनोद प्रलय का परिहास देख सकूंगी।" वह शकशिविर में अपने कौशल द्वारा शकराज की हत्या में चन्द्रगुप्त की सहायक होती है।

विपत्तियाँ मानव जीवन की कसौटी हैं। जीवन का मूल्य सङ्कटपूर्ण संघर्षों में सफलता पाने से बढ़ जाता है। संकटों का सामना करने से साहस और आत्मबल की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही बुद्धि-व्यापार का भी समुचित विकास होता है। ध्रुवस्वामिनी की स्वाभाविक साहसशीला प्रवृत्ति का विकास आन्तरिक और बाह्य सङ्कटों का सामना करने से तो होता ही है, साथ-ही उसका बुद्धि-कौशल भी क्रमश:

विकसित हो जाता है। शकराज को विफल मनोरथ कर ध्रुवस्वामिनी अपने बुद्धि-कौशल से सामन्त कुमारों को उत्तेजित करती है। वह उनकी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त कर लेती है। वह बाह्य शत्रु को पूर्णतया परास्त करने के पश्चात् अपने प्रति किए गए समस्त अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। वह राजपुरोहित के समक्ष अपने वैवाहिक जीवन की कदर्थना मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती है और उसकी सहानुभूति प्राप्त करती है। पुरोहित धर्मशास्त्र का अवलोकन कर निष्पक्ष सम्मति देता है—"विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है।....................... ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।" ध्रुवस्वामिनी अपने प्रति अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए अपने लिए सब ओर से अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने के साथ ही चन्द्रगुप्त को भी अन्यायपूर्ण राजकीय आदेशों का प्रबल प्रतिवाद करने के लिए प्रोत्साहित करती है। वह चन्द्रगुप्त से बड़े उत्तेजनापूर्ण एवं उत्साहवर्धक शब्दों में कहती है—'कुमार ! मैं कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो। किस अपराध के लिये दण्ड ग्रहण कर रहे हो।' निस्सन्देह ध्रुवस्वामिनी के प्रयत्नों से ही रामगुप्त और शिखरस्वामी की कूट-मन्त्रणाओं और कपटाचारों की कलई खुल जाती है और उन्हें पूर्ण पराभव प्राप्त होता है। नारी अबला होकर भी अपने सम्मान की रक्षा और अन्यायों का प्रतिकार अपने आत्मबल, निर्भीकता और बुद्धि कौशल द्वारा कितनी सफलता के साथ कर सकती है, इसका सफल निदर्शन ध्रुवस्वामिनी के चरित्र विकास में हुआ है।

नाटक में ध्रुवस्वामिनी का जीवन सङ्कटापन्न होने के कारण सतत संघर्षशील है। संघर्षमय जीवन में निरन्तर संलग्न रहने के कारण हमें उसके हृदय की ओजस्विनी एवं पुरुषार्थ प्रेरक प्रवृत्तियों का ही विशेष परिचय प्राप्त होता है। नारी हृदय की भावुक कोमलता का निदर्शन उसके चरित्र में स्वल्प है। उसके हृदय की मधुर भावनाओं का गला मानों

उसके उदय काल मे ही घोंट दिया जाता है। 'निरभ्र-प्राची के बालारुण' के समान चन्द्रगुप्त की दीप्तिमयी मूर्ति के स्थान पर उसका वैवाहिक सम्बन्ध क्लीव, कापुरुष रामगुप्त से होता है। रामगुप्त के कठोर नियंत्रण में अत्यन्त यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण उसके हृदय का मधुर स्रोत सूख-सा जाता है और वह एक मरुस्थल के समान हो जाता है। चन्द्रगुप्त के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति, उत्सुकता एवं ममत्वपूर्ण अनुराग पूर्णतया सन्निहित है किन्तु ध्रुवस्वामिनी के भावुक प्रेमोद्गार केवल एकही स्थल पर प्रकट होते हैं। चन्द्रगुप्त को शक-शिविर एकाकी जाते हुए देखकर, वह तीव्र ममत्व की भावना से प्रेरित हो उसे अपनी भुजाओं में पकड़कर कहती है—'नहीं, मैं तुमको न जाने दूँगी। मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी जीवन का सम्मान बचाने केलिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।" इस ममत्व प्रदर्शन में ध्रुवस्वामिनी का प्रेम-भाव ही विशेष झलकता है। चन्द्रगुप्त को इस आलिङ्गन प्रसंग में उसे जो स्पर्शजन्य-सुखानुभूति होती है उसे व्यक्त करती हुई वह स्वगतोक्ति कहती है—"कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिङ्गन! कितने सन्तोष से भरा था! नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो।" वस्तुतः ध्रुवस्वामिनी का जीवन इतना घटना और संघर्ष-पूर्ण है कि नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत उसके मधुर भाव की अभिव्यक्ति के अधिक अवसर ही नहीं प्राप्त होते। फिरभी नाटककार ने उसके ओजस्वी व्यक्तित्व में उसके हृदय के मधुर पक्ष की भी एक झांकी प्रस्तुत की है जिसके कारण उसका नारीत्व प्रकृत रूप से व्यक्त होगया है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र विकास में पूर्ण स्वाभाविकता है। नाटककार को उसमें पूर्ण सफलता मिली है।

मन्दाकिनी

मन्दाकिनी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की एक कल्पित स्त्री-पात्र है और वह सम्राट रामगुप्त की बहन के रूप में नाटक में आई है। वह अपनी न्याय-बुद्धि, निर्भीकता एवं कार्य-कुशलता से नाटक में महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करती है। 'न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण' करने के लिए ही वह राजनीतिक प्रपंचों में पड़ती है। उसमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। इससे उसके स्वभाव की निस्पृहता भी व्यक्त होती है।

नाटक के आरम्भ में ही मन्दाकिनी गूँगी (खड्गधारिणी) का अभिनय अत्यन्त कुशलता के साथ सम्पन्न कर चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के अन्तः स्थित भाव को अवगत कर लेती है। इतना ही नहीं, वरन वह कुमार के प्रति ध्रुवस्वामिनी के म्रियमाण स्नेह को सचेष्ट भी करती है, और उसके प्रति उसकी सहानुभूति और उत्सुकता सजग करती है। मन्दाकिनी द्वारा कुमार की मानसिक ग्लानि एवं वेदना तथा शारीरिक परवशता का समाचार अवगत कर ध्रुवस्वामिनी हठात् कह बैठती है—"किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक होजाय।" ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति इस प्रकार ममत्वपूर्ण सहानुभूति उत्पन्न करने से मन्दाकिनी की उत्कृष्ट कार्यकुशलता का परिचय मिलता है।

मन्दाकिनी अपने निर्मल विवेक द्वारा व्यक्तियों तथा परिस्थितियों की वास्तविकता यथार्थ रूप से शीघ्र ही अवगत कर लेती है। कुमार चन्द्रगुप्त और रामगुप्त को अपने अन्तःचक्षु से परखती हुई वह स्वगत रूप से यथार्थ ही कहती है—'कुमार चन्द्रगुप्त ! कितना समर्पण का भाव है

उसमे ? और उसका बड़ा भाई रामगुप्त कपटाचारी रामगुप्त !……" इस प्रकार मन्दाकिनी परिस्थितियों का यथार्थ रूप मे अनुभव कर कृत-सङ्कल्प होती है—"मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा।" वह अपनी निर्भीकता एवं कार्यकुशलता से अपना सङ्कल्प पूरा करने में पूर्ण सफल होती है। उसके प्रयास से न्याय का पक्ष विजयी होता है। गुप्त-कुल का पवित्र राज सिंहासन उसके वास्तविक अधिकारी चन्द्रगुप्त को प्राप्त होता है और कपटाचरण एवं अन्याय से उस पर स्वल्प काल के लिये अधिकार कर लेने वाला रामगुप्त पराभव को प्राप्त होता है।

निर्भीकता हृदय की सात्विक प्रेरणा है। निश्छल, निःस्वार्थ एवं न्याय-पथ पर निरन्तर आरूढ़ व्यक्तियों में ही इसका प्रादुर्भाव होता है। मन्दाकिनी के व्यक्तित्व में ऐसी ही निर्भीकता कूट कूट कर भरी है। वह रामगुप्त की बहन होने के नाते नीति एवं विवेक सम्मत बात को राजाधिराज के भी सामने स्पष्टता पूर्वक कहने में नहीं हिचकती। वह नाटक के अन्तिम दृश्य में भरी सभा में ललकार कर कहती है—"राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोंट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल मर्यादा नारी को शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। × × × × इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है, कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़ कर जिन लोगों ने राजकिल्बिष किया हो, उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।" इसके पश्चात वह समस्त सामन्तकुमारों के सम्मुख रामगुप्त के कपटाचरण एवं किल्बिष की वह कलई खोलती है कि सब लोग उसे सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं, सबको वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होजाता है। निस्सन्देह निर्भीकता में मन्दाकिनी ध्रुवस्वामिनी से किसी दशा में कम नहीं है। न्याय का पक्ष निर्भीकता के अभाव में विजयी नहीं हो सकता। मन्दाकिनी की सफलता के मूल में उसकी निर्भीकता ही है।

मन्दाकिनी ध्रुवस्वामिनी को भाभी कहती है। इसी नाते सारा

जीवन उसकी सेवा और संकट-निवारण में सदैव संलग्न रहता है। उसे ध्रुवस्वामिनी के हृदय में, चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह के सूक्ष्म संकेत ही प्रारम्भ में प्राप्त होते हैं जब वह आगे की घटनाओं तथा वार्ता–प्रसङ्गों से यह निश्चयपूर्वक अनुभव कर लेती है, कि "निश्चय ही यह कुमार चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी है" तब वह उसी उत्साह और कुशलता से चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी की वास्तविक प्रीति की प्रतीति कराने में तत्पर होती है। वह चन्द्रगुप्त को 'महादेवी बनने के पहिले ध्रुवस्वामिनी का जो मनोभाव था, उसका परिचय कराती हुई अत्यन्त उत्साहपूर्ण वचनों में उन्हें कर्तव्य-ज्ञान कराती है—"हृदय में नैतिक साहस—वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार! कि अब आपको क्या करना चाहिए।" निस्सन्देह मन्दाकिनी के प्रयास से ही ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक प्रेम-मय जीवन का प्रसार होता है।

मन्दाकिनी के चरित्र सम्बन्ध एक विद्वान आलोचक के इस कथन को एकाङ्गी ही माना जायगा कि 'मन्दाकिनी तो केवल ध्रुवदेवी के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर बोलनेवाली उसकी सहचरी मात्र है उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व है—ऐसा नहीं मालूम पड़ता.. .. .. ।" व्यक्तित्व-शून्य पात्रों की कल्पना 'प्रसाद के' उर्वर मस्तिष्क में विरल है। सामान्य वर्ग के पात्रों के अन्दर भी उदात्त मानवी गुणों की प्रतिष्ठा कर उन्होंने नाटकीय पात्रों के चरित्र को व्यक्तित्वपूर्ण बनाया है। मन्दाकिनी का चरित्र भी इसी कोटि का है। न्याय-पक्ष की विजय के लिए जो निःस्वार्थबुद्धि, निर्भीकता और कुशलता आपेक्षित है उसकी एक बहुत बड़ी मात्रा मन्दाकिनी में है। ध्रुवस्वामिनी की वह सहचरी एवं अनन्य आत्मीया है। मन्दा की कठोर एवं गम्भीर वाणी से ध्रुवस्वामिनी को बल भी अवश्य प्राप्त होता है; किन्तु इसकी तो अपर को नितान्त अपेक्षा भी है। आत्मीय-हित-चिन्तन और उससे लिए तत्परतापूर्ण प्रयास मन्दाकिनी के व्यक्तित्व को ऊंचा उठा देते हैं।

किसी के चरित्र का गौरव सर्वथा व्यक्ति विशेष के विचारों और कार्यों पर अवलम्बित रहता है। उसके चरित्र की विवेचना से यह तो स्पष्ट ही है उसके विचार न्याय-बुद्धि पर अवलम्बित हैं तथा परमार्थ प्रेरक हैं। वह विचारों के अनुरूप ही निर्भीकता एवं कुशलता से कार्य करती है। उसे अपने लक्ष्य में सफलता भी प्राप्त होती है। अतः उसका चरित्र परम गौरवशाली है।

कोमा

अनुभूतिमयी और दार्शनिक कोमा के चरित्र की कल्पना द्वारा 'प्रसाद' ने एक आदर्श नारी का चित्र प्रस्तुत किया है। नारी स्वभाव की सामान्य दुर्बलता—मोह—के साहचर्य में विवेक, विनम्रता, आत्मसमर्पण, दैन्य, त्याग आदि परम उदात्त सबल गुणों का निदर्शन उसके चरित्र में है। अत उसका व्यक्तित्व सामाजिकों एवं पाठकों की स्मृति में अमरत्व प्राप्त कर जाने योग्य है

वह आचार्य मिहिरदेव की पालिता पुत्री है और 'उन्हीं की शिक्षा में पली है।' अत. उसका दार्शनिक होना स्वाभाविक है। किन्तु कोमा की दार्शनिकता शुष्क नहीं है। वह जीवन-मधु की अनुभूति से सवलित है। वह अभावमयी लघुता में अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करना इसीलिए पसन्द नहीं कर सकती क्योंकि उसे 'रूठने का सुहाग' कभी नहीं मिला। इसी कारण उसे 'संसार में बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगतीं हैं, और अच्छी बातें बुरी लगती हैं।" जीवन की इस गम्भीर अनुभूति के मूल में नारी स्वभाव की सहज दुर्बलता मोह या प्रेम है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रखते हुए भी वह नारी होने के नाते, उससे अपने को बचा नहीं सकती। वह जानती है—"प्रेम ! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाशपुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की और भी वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती हैं।" किन्तु फिर भी यह समझ कर कि—'प्रेम करने की ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों एक बराबर हैं,' वह प्रेम पथ पर अपनी अनन्य भावना से पदार्पण करती है। एक बार प्रेम-पथ का पथिक बनकर उस पर जो ,निराशा, निष्पीड़न और

उपहास' उसे मिलते हैं उन्हें वह आत्मसमर्पण, दैन्य और त्याग के संबल से सहती हुई, प्रेम का सफल निर्वाह करती है, और पूर्ण नारीत्व की गौरवमयी झांकी प्रस्तुत करती है।

प्रेम के आलोक से चकाचौंध हो कोमा एक भयङ्कर भूल कर बैठती है। उसके प्रेम का आलम्बन, शकराज, उसके सर्वथा अनुपयुक्त है। वह निष्ठुर, स्वार्थी, विलासी और प्रमादपूर्ण है। कोमा आरम्भ में शकराज की दर्प से दीप्त, महत्वमयी पुरुष मूर्ति को ही देख कर उनकी पुजारिन बन जाती है। स्वार्थी और विलासी शकराज की 'स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने, कोमा के 'मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की तथा वह 'अनुभूतिमयी बन गई।' उसे यह आगे चलकर ही विदित होता है कि उसका यह भ्रम था। किन्तु कोमा इस भ्रान्तिबोध के पश्चात् भी न तो प्रेम-पथ से विरत होती है, और न उसका विवेक ही कुण्ठित होता है। उसके चरित्र में प्रेम और विवेक का संतुलित चरम निदर्शन है। एक ओर जहाँ वह प्रेम की वेदी पर खड़े होकर आजीवन 'निराशा निष्पीड़न और उपहास' को मूक भाव से सहन करती हुई प्रेमी के शव के साथ शरीर त्याग करती है, वहाँ दूसरी ओर वह प्रेमी के अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का यथाशक्ति प्रतिकार करने की चेष्टा भी करती है, और उसमें सफल न होने पर वह प्रेमी के आकांक्षा-पथ से स्वयं ही हट जाती है। उसके मानस में मोह और विवेक के बीच एक बार स्वाभाविक संघर्ष होता है। विवेक उसे जीवन का आदर्श-पथ संकेतित करता है, किन्तु प्रेम की पुष्प शृङ्खला उसे उस पथ पर पैर नहीं बढ़ाने देती। उसके इसी मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति नाटककार ने उसके द्वारा ही बड़े मार्मिक शब्दों में छाया-पद्धति से कराई है—"मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलार भरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे पैरों से उलझ गई है। दे दूं एक झटका उसकी हरी-हरी पत्तियाँ

कुचल जांय और वह धूल में लोटने लगे ? ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।" कोमा के अन्तःस्थित इस द्वन्द्व में विजय विवेक की होती है। वह शकराज की दर्पदीप्तिमयी पुरुष मूर्ति के स्थान पर स्वार्थ-मलिन कलुष, से भरी मूर्ति देख कर और उसे आशंका-मात्र से कम्पित और भयभीत पाकर उसका पहला छोड़ देती है, वह अपने आचार्य का अनुगमन करती है। प्रेमी के पतन में सहायक होकर अथवा उसके अन्यायपूर्ण कुकृत्यों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योग देकर वह नारी जाति के लिए लज्जा और निन्दा का विषय बन जाती। मोह पर विवेक की विजय आदर्श-सम्मत है।

आत्मसमर्पण का उच्च आदर्श अपने जीवन में अपनाकर भी कोमा यथार्थ तथ्य-निवेदन में विवेकपुष्ट निर्भीकता का परिचय देती है। वह अपनी स्वाभाविक विनम्रता के साथ शकराज के समक्ष वास्तविक सत्य को स्पष्ट रूप से कहने में नहीं हिचकती—"मेरे राजा ! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो ?" इसी प्रकार जब दैन्यपूर्ण भाव से शकराज के शव की प्रार्थना करने पर वह ध्रुवस्वामिनी से उपेक्षिता होती है तब भी उसके सामने वह जीवन का कठोर सत्य कहने में नहीं चूकती—'रानी, तुम स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी, आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीवाली जगती है। .. .." कोमा अपनी निर्भीक मुखरता में भी मर्यादित और विनम्र है, जो उसके उच्चशील और शिक्षापूर्ण संस्कृति का परिचायक है। प्रेमी के निधन होने पर उसके शव के साथ आत्मविसर्जन द्वारा कोमा ने नारी-जाति के गौरवपूर्ण आदर्श-त्याग का चरम स्वरूप प्रदर्शित किया है। कोमा का व्यक्तित्व, भावुक, उदार विवेकयुक्त और त्यागमय है। नारी-जीवन का जो मार्मिक प्रत्यक्षीकरण नाटककार ने उसके चरित्र में कराया है वह सर्वथा स्तुत्य है।

विशाख

विशाख एक सुशिक्षित ब्राह्मण युवक है। वह तक्षशिला में विद्यार्थी जीवन समाप्त कर लौकिक जीवन के क्षेत्र में अवतरित होता है। सद्‌शिक्षा के प्रभाव से उसमें सहानुभूति, परदुःखकातरता, गुरुभक्ति, कर्त्तव्यपालन आदि सभी विशिष्ट गुण यथेष्ट रूप से हैं। 'उन्नति के लिए पहली दौड़ लगाने' के पहिले ही वह यह अनुभव कर लेता है कि "यौवन सुख के लिए नहीं है वरन् वह आशामय भावी सुखों के लिए कठोर कर्मों का संकलन है।" अतः जीवन में जो संकट एवं विघ्नबाधाएँ आती हैं वह दृढ़ता से उनका सामना करता है और अपने बुद्धि-बल और पुरुषार्थ से अपने जीवन को क्रमशः उन्नतिपथ पर अग्रसर करता है।

परदुःखकातरता और सेवाभाव जो सद्‌शिक्षा के प्राथमिक निदर्शन हैं, विशाख के चरित्र में प्रारम्भ से ही स्फुरित हैं। वह संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में ही चन्द्रलेखा और इरावती की दारिद्र्य-पीड़ित सुन्दर किन्तु मलिन आकृतियों को देखकर सहानुभूति-प्रेरित हो उनकी सहायता के लिए अग्रसर होता है। निस्सन्देह विशाख के ही उद्योग से चन्द्रलेखा बौद्ध महन्त सत्यशील के चंगुल से छुटकारा पाती है और सुश्रवा नाग को अपनी अपहृत भूमि वापिस मिलती है।

सुशिक्षित होने पर भी विशाख लोक व्यवहारों से पूर्ण परिचित नहीं है। उसके स्वाभाव में एक अजीब अक्खड़पन है। इसी से वह जहाँ जाता है वहाँ मुँहठेठ बात कहने के कारण अन्य लोगों से उसकी मुठभेड़ हो जाती है। कानीर बिहार के द्वार पर ही वह एक भिक्षु से उलझ जाता है। महापिङ्गल से प्रथम मिलन के अवसर पर ही विशाख की जो बातें उससे होती हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि राज-

पुरुषों को अनुकूल करने की क्षमता स्वभावतः उसमे नहीं है। परिस्थितियों द्वारा ही वह आपेक्षित कुशलता प्राप्त करता है। राजसभा मे सत्य किन्तु अप्रिय कथन के कारण विशाख को मन्त्री द्वारा डाट सुननी पड़ती है। किन्तु फिर भी विशाख को अपने मानापमान की उतनी चिन्ता नहीं-जितना कार्य सिद्ध करने की। वह पुरुषार्थ पर दृढ़ आस्था रखने वाला है। वह समझता है कि संसार उन्नति का साथी है, और उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है। अतः वह अपने उद्योग और पुरुषार्थ में सदैव संलग्न रहता है।

अपने हृदयस्थित सच्चे विचारों को दूसरों के सामने निर्भयता के साथ रखने वाला और अपनी आत्मा के आदेश के अनुसार कार्य्य करने वाला पुरुष ही निर्भीक कहा जा सकता है। विशाख इसी कोटि का मनुष्य है। वह जिस स्पष्टता के साथ बौद्ध महन्त सत्यशील और राजा नरदेव के समक्ष उनके अन्याय पूर्ण कुकृत्यों का परदा खोलता है उससे उसके निर्भीक आत्मबल का परिचय मिलता है। वह भिक्षु से कहता है—"मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर और मोटा होने की आवश्यकता नहीं।" इसी प्रकार वह नाटक के तृतीय अंक के चतुर्थ दृश्य मे न्यायासन पर बैठे हुए नरदेव के एक प्रश्न का मुँहतोड़ उत्तर देता है—"नही जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाय जब कि अभियोग ही उल्टा हो और जो अभियुक्त हो—वही न्यायाधीश हो।" विशाख मे स्वाभिमान की मात्रा भी इतनी प्रबल है कि वह चन्द्रलेखा को नरदेव के हवाले करने का प्रस्ताव करने वाले महापिंगल का मस्तक ही तलवार से काट लेता है। विशाख के स्वभाव में यौवन के प्रभाव से शीघ्र ही उत्तेजित होने की प्रवृत्ति है। वह चैत्य मे बौद्ध भिक्षु निर्भयानन्द को मारने के लिए तलवार उठाता है और नाटक के अन्तिम दृश्य में नरदेव को घायल दशा में देखने पर भी उसके विरुद्ध उसकी प्रतिहिंसा जाग उठती है, जिसे प्रेमानन्द शान्त करते हैं।

विशाख के चरित्र में सब से महत्वपूर्ण घटना चन्द्रलेखा का प्रेम है। नाटकीय कथावस्तु के विकास का मानो यही आधार है, तथा विशाख के कर्मण्यता एवं पुरुषार्थ का प्रेरक चन्द्रलेखा के प्रति उसका प्रेम है वह स्वयं कहता है कि "चन्द्रलेखा को यदि न देखता तो सम्भव है कि यह धर्मभाव न जागता।" चन्द्रलेखा के प्रथम साक्षात्कार में ही उसकी दारिद्र्यग्रस्त मूर्ति देख कर विशाख को सहानुभूति तो सजग होती है, पर साथ ही उसका रूपलावण्य देख कर उसके प्रति अनुराग का भी स्फुरण होता है। चन्द्रलेखा भी विशाख की परदुःखकातरता, परोपकार भावना एवं पुरुषार्थमय व्यक्तित्व से प्रभावित हो उसकी ओर सहज ही आकर्षित होती है और उसके सामने आत्मसमर्पण कर देती है। दोनों ही परस्पर प्रणयबन्धन में बँध जाते हैं। विशाख कोरा मुखर प्रेमी नहीं है। वह अपनी प्रेमिका को घोर संकटमय परिस्थितियों से बचाता है और उसके सतीत्व तथा सम्मान की रक्षा के लिए स्वयं विपत्तियों के बादल अपने सर पर बुलाता है। वह चन्द्रलेखा को कानीर बिहारकी कोठरी से मुक्त कराता है तथा राजा नरदेव के चंगुल से उसे बचाने के लिए वह अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। चन्द्रलेखा के प्रेम से ही उसका सारा जीवन अनुप्राणित है। इस दृष्टि से यद्यपि विविध व्यापारों में उसकी संलग्नता स्वार्थप्रेरित प्रतीत होती है किन्तु फिर भी वह सात्त्विक ही मानी जायगी। नाटककार ने इसी बात का प्रतिपादन प्रेमानन्द द्वारा नाटक में कराया है—"जब तक शुद्ध बुद्धि का उदय न हो तब तक स्वार्थ प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है। ....उद्देश्य उत्तम होना चाहिए। जो कर्त्तव्य है उसे निर्भय होकर करो।"

विशाख में गुरुभक्ति अटल रूप से है। वह अपने गुरु प्रेमानन्द के उपदेशों को मन्त्रवत ग्रहण कर जीवन में उनके अनुसार कार्य करता है। परोपकार, निर्भयता, उदारता आदि सद्गुण उसके गुरु की ही देन है, जिनसे उसका चरित्र अलंकृत है। वह गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा

एवं भक्ति रखता है। वह उनके सामने अत्यन्त विनम्रता पूर्वक उनके उपदेशों को ग्रहण कर उनका पालन करता है। वह प्रेमानन्द के ही आदेश से भिक्षु और नरदेव की हत्या नहीं करता तथा अपने हृदय की उत्तेजना को दबा जाता है।

नाटक का नायक विशाख है। उसमे नायकोचित प्राय. सभी विशेषताए हैं। वह विद्वान, पराक्रमी, पुरुषार्थी, विनम्र और धैर्यवान है तथा वह परोपकार के लिए सदैव तत्पर रहने वाला है। नाटक की सभी प्रमुख घटनाओं से उसका सम्बन्ध है। नाटक के अन्य प्रमुख पात्र सत्यशील, महापिंगल, नरदेव, सुश्रुवा, प्रेमानन्द आदि उसके चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने मे सहायक होते हैं। नाटक का फल नायिका की प्राप्ति भी उसको ही होती है। विशाख को यद्यपि नाटक के फल रूप राज्यप्राप्ति तो नहीं होती किन्तु उसे बालक-राजा के शिक्षण का कार्य प्राप्त होता है, जो राज प्राप्ति के ही समान है। नाटककार ने नाटक का नाम उसके नाम पर ही रखा है, अत विशाख ही निर्विवाद रूप से नाटक का नायक है।

'विशाख' 'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक नाटकीय कृति है अत: उसमें पात्रों के चरित्र विकास-क्रम सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित नहीं है। पात्रों की स्वभावगत विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण निखरे हुए रूप मे नहीं प्राप्त होता। अत उनका व्यक्तित्व विशेष प्रभावोत्पादक नहीं बन पाया। 'विशाख के चरित्र मे भी सद्गुणों का स्पष्ट विकास नहीं है तथा उसके स्वभाव में जो कुछ दुर्बलताएं हैं, वे इस रूप मे निरन्तर सामने आती रहती हैं कि उनके कारण सद्गुणों का स्वरूप और भी धूमिल हो जाता है। यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि नायक के रूप मे जैसा उत्कर्षपूर्ण विशाख का चरित्र होना चाहिए था वह नहीं हो सका।

———

नरदेव

'विशाख' नाटक के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में सर्वप्रथम नरदेव एक कर्त्तव्य-परायण एवं न्यायनिष्ठ राजा के रूप में दिखाई पड़ता है। किन्तु बाद में मानव-हृदय की सहज दुर्बलता—रूपमोह—के वशीभूत होजाने के कारण वह नैतिक पतन के गर्त मे गिर जाता है। वह कर्त्तव्यपालन, न्यायभावना आदि सभी राजोचित गुणों से विहीन कामान्ध एवं अविवेकी दिखाई पड़ता है। आकस्मिक विपत्तियुक्त घटनाओं तथा प्रेमानन्द के उदात्त सात्विक उपदेश एवं सहानुभूति-पूर्ण व्यवहारों से उसका अविवेक दूर होजाता है, और उसमे सात्विक बुद्धि का उदय होजाता है।

प्रजा-पालन और निष्पक्ष न्यायदान, राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। नरदेव के चरित्र में पहिले इन्हीं गुणों का निदर्शन है। विशाख द्वारा कानीर विहार के बौद्धमहन्त सत्यशील के कदाचारों की कुटिल कथा सुनकर नरदेव कर्त्तव्य एवं न्यायभावना से प्रेरित हो अत्यन्त तत्परता के साथ कहता है—'बस ब्राह्मणदेव पर्य्याप्त हुआ। (मन्त्री से) क्यों मन्त्रिवर! क्या यही प्रबन्ध राज्य का है? खेद की बात है। अभी इस ब्राह्मण की बातों की खोज की जाय, और गुप्त रीति से। देखो मालूम न हो! हम स्वयं इसका न्याय करेंगे।" इतना ही नहीं, वरन् वह स्वयं बौद्ध-विहार में जाकर चन्द्रलेखा को महन्त के चंगुल से मुक्त कराता है और अन्याय पूर्वक सुश्रुवा नाग की अपहृत भूमि उसे वापिस दिलाता है। नरदेव की न्यायबुद्धि पूर्ण संतुलित नहीं है। वह क्रोध और आवेश से परिपूर्ण हो एकांगी है। अतः सत्यशील जैसे असाधु महन्त के पापाचरण से उत्तेजित हो वह समस्त बौद्ध विहारों को जला

देने की आज्ञा देना है। प्रेमानन्द के अनुरोध एवं सात्विक उपदेश से वह अपनी उस क्रूर आज्ञा को वापिस लेता है और समस्त बौद्ध-विहारों का अग्निदाह बन्द हो जाता है। नरदेव के इस कार्य से सच्चे साधु एवं महात्मा पुरुषों के प्रति उसकी आस्था भी प्रकट होती है। इसी सद्‌गुण के पूर्ण विकास होने पर उसका पूर्ण विनाश नहीं हो पाता।

ऐश्वर्य एवं वैभव-सम्पन्न मनुष्यों के जीवन में विलासिता एक सामान्य दुर्गुण है। उनकी इस दुर्बलता के विकास में उनके कुछ पार्श्ववर्ती भी प्रायः सहायक हो जाते हैं। विलासिता के पंक में डूबा हुआ मनुष्य नीति एवं सदाचार से सर्वथा वञ्चित हो जाता है। नरदेव का भी जीवन-प्रवाह इसी प्रकार का है। नर्तकियों के नृत्य और गान से मनोरंजन करने वाला नरदेव महापिंगल जैसे पतित चाटुकार सभासदों से घिरा रहता है। चन्द्रलेखा के लावण्यमय स्वरूप को देखते ही वह विवेक और न्याय-बुद्धि को मानों तिलाञ्जलि दे उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो जाता है। प्रलोभन द्वारा चन्द्रलेखा को प्राप्त करने में असफल होने पर नरदेव में कोमलता के स्थान पर कुटिलता और क्रूरता आजाती है। वह महापिंगल की सहायता से चन्द्रलेखा को प्राप्त करने के लिये अनेक कौशल रचता है। चैत्य में पूजन के लिये आई हुई चन्द्रलेखा के हृदय में भिक्षु द्वारा राजरानी बनने की भावना पैदा कराने का षड्यन्त्र वह महापिंगल की सहायता से रचता है। इसमें भी सफलता न मिलने पर विशाख के पास महापिङ्गल को भेजता है, जिससे कि वह भय या लोभ से चन्द्रलेखा को उसे समर्पित करदे। नरदेव काम-वासना से इतना विवेकहीन होजाता है कि वह अपनी रानी का कल्याणपूर्ण उपदेश और निर्देश भी नहीं ग्रहण करता। यद्यपि यह ठीक है कि महापिंगल उसके कामजन्य अविवेक वृद्धि में सहायक है किन्तु फिर भी प्रजापालक राजा होने के नाते उसका यह अत्यन्त जघन्य अपराध है कि वह अपनी एक प्रजा के सतीत्व और सम्मान की खुली लूट के लिए

प्रयत्नशील हो। नरदेव अपने कुकृत्यों का स्वयं ही उत्तरदायी है।

अनीति और अनाचार अपनी चरमावस्था को पहुँच कर कर्त्ता के अस्तित्व के लिये विस्फोट प्रस्तुत कर देते हैं। नरदेव अपनी दुर्नीति एवं दुराचारों से अपने विरुद्ध विनाश की भूमिका स्वयं प्रस्तुत करता है। धूर्त महापिंगल की हत्या का प्रतिकार वह विशाख को निर्वासन एवं प्राणदण्ड की आज्ञा देकर करना चाहता है। समस्त नाग जाति विद्रोही होकर सत्याग्रह के लिये प्रस्तुत हो जाती है। प्रेमानन्द के कल्याणप्रद सदुपदेश को वह अवज्ञा के कानों से सुनता है। उसकी प्रतिकार भावना प्रबल होकर क्रूरता का ताण्डव करने लगती है। वह शान्त किन्तु दृढ़ नाग जाति को न्यायालय से हटाने के लिये क्रूरता पूर्ण आदेश देता है—"मारो इन दुष्टों को।" परिणामस्वरूप नरदेव को ही अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में परिवार सहित जलना पड़ता है। प्रेमानन्द और चन्द्रलेखा की साधुता और उदारता के कारण ही नरदेव और उसके पुत्र के प्राण बचते हैं।

पापाचरण का यथेष्ट दण्ड मिलने पर ही विकृत हृदय सुकृति की ओर उन्मुख होता है। अग्नि की लपटों में झुलस कर नरदेव पुनः तपाये हुये सोने की तरह खरा हो जाता है। उसका विवेक सजग होकर उसे हिताहित का यथार्थ ज्ञान कराता है। प्रेमानन्द के हितपूर्ण उपदेश एवं उदार व्यवहारों से उसकी आंखें सदा के लिये खुल जाती हैं। वह मुक्त कंठ से स्वीकार करता है—"हाय हाय, मैंने क्या किया,—एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी······।" इस प्रकार वह आत्मग्लानि व्यक्त कर सच्चे हृदय से प्रेमानन्द, विशाख और चन्द्रलेखा से अपने कुकृत्यों के लिये क्षमा मांगता है। नरदेव के चरित्र में यह परिवर्तन घटनाओं के घातप्रतिघात और परिस्थितियों की प्रेरणा से है, अतः पूर्ण स्वाभाविक है।

प्रेमानन्द

प्रेमानन्द नाटक का महात्मा पात्र है। वह उच्च विचारशील एवं परोपकारी है। वह जीवन के उच्च आदर्शों के अनुरूप ही आचरण करने वाला है। नाटक के प्राय सभी प्रमुख पात्र विशाख, नादेव, सत्यशील आदि के राग, द्वेष, प्रमाद, लोभ आदि से पराभूत हृदयों को अपनी अमृतमयी शीतल एवं स्निग्ध वाणी से अभिसिञ्चित करता हुआ वह उन्हें आदर्श-जीवनपथ का पथिक बनाता है। 'विशाख' नाटक मे प्रेमानन्द का व्यक्तित्व मानों एक प्रकाश-स्तम्भ के समान है जिसके प्रखर आलोक में नाटक के अधिकांश पात्र भटकते, भूलते हुए भी अपनी जीवन-यात्रा का आदर्श-पथ प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं।

प्रेमानन्द शाश्वत-संघ का अनुयायी है। प्रेम की सत्ता को संसार में जगाना ही उसका कर्त्तव्य है। वह अध्यापक जीवन सफलता पूर्वक व्यतीत कर परिव्राजक रूप में प्रकृति का दर्शन करने की अभिलाषा से पर्यटन करता है। जीवन में उसकी कोई निजी आकांक्षा या स्वार्थ नहीं है, अत. वह अपने विचारों का उपदेश बड़ी निर्भीकता एवं पक्षपात रहित होकर करता है। कानीर विहार में ही वह न्यायपथ का अवलम्बन करते हुए चन्द्रलेखा को मुक्त करने के लिए सत्यशील से निर्भीकता पूर्वक कहता है—"क्या तुम उस कन्या को न छोड़ दोगे? क्या धर्म की आड़ में प्रभूत पाप बटोरोगे?"

प्रेमानन्द का अपने शिष्य विशाख पर प्रगाढ़ स्नेह है। वह उसे सदैव जीवन का सत्पथ प्रदर्शित करता है, और जब कभी उसमें उत्तेजना एवं द्वेष का प्रादुर्भाव होता है तब वह अपने शीतल उपदेशमय वचनों द्वारा उसे शान्त करता है। वह विशाख को कर्मयोग के व्यावहारिक

रूप का अनुकरण करने की शिक्षा देकर निर्भय रूप से कर्त्तव्य करने का आदेश देता है। जब विशाख चैत्य में प्रवञ्चक भिक्षु को मारने के लिए तलवार उठाता है तो प्रेमानन्द उसे यह समझाते हुए रोक लेता है—'क्षमा सर्वोत्तम दण्ड है विशाख।' इसी प्रकार जब विशाख, नरदेव को अन्तिम दृश्य में अपने आश्रम में देखता है और द्वेष एवं प्रतिहिंसा प्रेरित हो उससे प्रतिशोध लेने के लिए प्रस्तुत होता है, तब प्रेमानन्द उसे समझाता है—' विशाख, वत्स ! प्रतिहिंसा, पाशववृत्ति है।.... यदि मेरा कहा मानो, तो तुम सज्जनता के हृदय से इन्हें क्षमा करदो ..।''

प्रेमानन्द मानों साक्षात् प्रेम-मूर्ति है। उसे किसी से द्वेष नहीं है। वह अपकारी और अनाचारी व्यक्तियों को भी अपने प्रेम-मय कोमल वचनों और व्यवहारों द्वारा अपने वश में कर लेता है। नरदेव अपने अन्यायपूर्ण कार्यों का शांत विरोध करने वाले प्रेमानन्द को अत्यन्त तिरस्कार-पूर्ण शब्दों द्वारा न्यायालय से बहिर्गत होने की आज्ञा देता है—"चले जाओ सन्यासी, तुम क्यों व्यर्थ अड़ते हो। यह नहीं हो सकता। निकालो जी, इन्हें बाहर करो।" किन्तु प्रेमानन्द के हृदय में उसके प्रति सद्भावना और सहानुभूति न्यून नहीं होती। वह राजा को अग्नि में से घुस कर उठा लाता है, और पीठ पर लाद कर चला जाता है। वह औषधि उपचार से उसे पुनः स्वस्थ कर देता है। प्रेमानन्द की शीतल वाणी और व्यवहारों के प्रभाव से नरदेव का कलुषित हृदय निर्मल हो जाता है, तथा वह अपने वास्तविक उपकारी के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा व्यक्त करता हुआ अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगता है—"देवदूत ! मेरे अपराध क्षमा कीजिए।'''गुरुदेव, मैं आपकी शरण हूं; मुझे फिर से शान्ति दीजिए।" प्रेमानन्द जैसे पारस रूप महात्मा के प्रभाव से लौहवत कठोर हृदय वाला नरदेव काञ्चन-वत् कलुष विहीन एवं कान्ति-युक्त व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

प्रेमानन्द का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। सभी जाति के

के लोग उसके आदेशों को मन्त्रवत् ग्रहण करते हैं। नाग जाति नरदेव के अत्याचारों से पीड़ित हो रक्तमय क्रान्ति के लिए आकुल हो जाती है। प्रेमानन्द अपने मनोहर उपदेश द्वारा उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनकी हिंसक वृत्ति को उपशमित करता है। समस्त नाग जाति उसके आगे नतमस्तक हो उसके बताए हुए मार्ग पर चलना स्वीकार करती है। बौद्ध विहारों को जला देने की आज्ञा को नरदेव, प्रेमानन्द के समझाने से वापिस लेता है। प्रेमानन्द अपने सात्विक और प्रेममय उपदेशों से समष्टि और व्यष्टि की कल्याण साधना में पूर्ण सफल होता है। उसका व्यक्तित्व निस्सन्देह अत्यन्त गौरवपूर्ण एव श्रद्धा योग्य है। नाटककार ने उसके कल्पित चरित्र में अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा कर व्यावहारिक जीवन में उनकी उपादेयता और प्रभविष्णुता सफलता पूर्वक अभिव्यक्त किया है। प्रेमानन्द का जीवन यद्यपि आदर्शों के उच्च धरातल पर ही सदैव संचरण करता हुआ दिखाई देता है पर लोक में ऐसे उदात्त विचारों वाले कर्मठ पुरुषों का अस्तित्व प्रायः देखा जाता है, अतः उसका जीवन-चरित्र अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

महापिङ्गल

महापिङ्गल विनोदी, किन्तु धूर्त एवं चाटुकार राज सहचर है। वह अपनी विनोद पूर्ण मुखरता द्वारा राजा नरदेव तथा उसके अन्य सभासदों का मनोरञ्जन करता है। वह स्वयं कामुक मनोवृत्ति का है तथा राजा की कामुक दुश्चेष्टाओं में उसका सहायक होता है। नाटककार ने विशाख द्वारा इसकी मृत्यु नाटक में प्रदर्शित की है। लोक की नीतिपूर्ण व्यवस्था के लिए समाज मे महापिङ्गल जैसे कुटिल मनुष्यों की स्थिति सर्वथा अवाञ्छनीय है।

महापिङ्गल में अहम्मान्यता अत्यधिक मात्रा में है। अत: वह औरों के सामने आत्मगौरव और अभिमान भरी बातें खूब छाती फुला फुला कर करता है। इतना ही नहीं वह अपना अभिमान और गर्व दिखाने के लिए अकारण मिथ्या क्रोध भी प्रगट करता है। प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य मे उसकी इन वृत्तियों का परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है। विशाख को देखते ही, पिङ्गल उस पर अपना प्रभाव जमाने के लिए आत्मप्रशंसा के पुल बाँध देता है और विशाख को अपने से हीन सिद्ध करने के लिये उसे दो-चार खोटीखरी भी सुना देता है। आत्माभिमानी स्वयं अपनी प्रशंसा करने के अतिरिक्त दूसरों से भी अपने सामने ही अपनी श्लाघा सुनने का इच्छुक रहता है और उसे प्राप्त कर वह हर्ष प्रकट करता है। विशाख, पिङ्गल से कहता है—"मैंने आपके गाने की बड़ी प्रशंसा सुनी है, इसी से—हाँ।" पिङ्गल प्रसन्न होकर तत्काल कहता है—'तुम रसिक भी हो। अच्छा अच्छा, सुनाऊँगा, ठहरो चित्त उसके अनुकूल हो जाय। मिथ्या आत्माभिमान क्षुद्र-बुद्धि का परिचायक है।

महापिङ्गल स्वयं कामुक है और भीषण चाटुकार है। वह अपनी चाटुकारिता से राजा की दुर्वासनाओं को प्रोत्साहन देकर सर्वथा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। वह चन्द्रलेखा की बहिन इरावती के प्रति विषयासक्त होता है। साठ वर्ष की वृद्धावस्था में, परिणीता भार्या के होते हुए भी अन्य स्त्रियों के प्रति प्रेमाभिनय करना उसके चरित्र के नैतिक खोखलेपन का परिचायक है।

महापिङ्गल की चाटुकारिता तो मानों प्रकृतिसिद्ध है। उसे अपनी चाटुकारिता पर गर्व है। वह विशाख से कहता है—"महाराज को हमारे ऐसे यदि दो चार चाटुकार सामन्त न मिलते तो उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो जाता, उनकी हाँ न मिलाने से फिर भयानक बात की संग्रहणी हो जाती है, और निरीह प्रजा से अनेक विधानों से कर न मिलने के कारण उन्हें उपवास करके ही अच्छा होना पड़ता है।" महापिङ्गल कोरी हाँ—में—हाँ मिलाने वाला ही नहीं है वरन् वह राजा की कामुक दुर्वासनाओं को प्रोत्साहित करता है और स्वयं उसका सहायक बनता है। वह राजा को रमण्याटवी में ले जाकर चन्द्रलेखा के समक्ष प्रेम की प्रस्तावना आशीर्वाद—ब्याज से प्रस्तुत करता है—'अच्छा तुम राजरानी हो।' अपने प्रथम प्रयास में निष्फल होने पर वह प्रवञ्चना और कूट चालों का आश्रय लेता है। भिक्षु को चैत्य में भेजता है जिससे कि चन्द्रलेखा के हृदय में राजा से सम्बन्ध स्थापित करने की भावना घर कर जाय। वह राजा की विषयासक्ति को अपनी चाटूक्तियों द्वारा उत्तेजित करता है। नरदेव जब मिथ्या एवं कलुषित प्रेम-भावना का अभिनय करता हुआ चन्द्रलेखा की आज्ञा से अपने पेट में कटार मार लेने की बात पिङ्गल से कहता है तो वह अपनी चाटूक्ति से मानों राजा के इस मिथ्या दम्भ को प्रोत्साहित करते हुए कहता है—"यथार्थ है, श्रीमान्, इसे भीतर कीजिये नहीं तो मेरी बुद्धि घूमने चली जायगी।......हाँ, जी, कुछ ऐसा-वैसा नहीं प्रेम भी तो राजाओं का है।" महापिंगल की कुटिल चाटूक्तियों के

कारण ही राजा नरदेव पर उसकी रानी के अनुरोध पूर्ण सदुपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ता और वह कुमार्ग से विरत नहीं होता। महापिंगल की नीचतापूर्ण मूर्ख बुद्धि की वह पराकाष्ठा है जब कि वह विशाख के पास चन्द्रलेखा को समर्पित करने का प्रस्ताव अधिकारपूर्ण ढंग से जाकर रखता है। विशाख द्वारा महापिङ्गल की हत्या सर्वथा औचित्यपूर्ण है।

महापिङ्गल के चरित्र में नाटककार ने हास्योत्पादकता का भी विधान किया है। उसकी आत्मप्रशंसा गर्वोक्तियों में हास्य का पर्य्याप्त समिश्रण है। उसके कथनों में मिथ्याडम्बर, आत्मश्लाघा, पेटूपन कार्पण्य आदि की मुखर अभिव्यञ्जना है, जिससे हास्य का सम्यक् स्फुरण होता है। पिंगल के चरित्र में प्राचीन संस्कृत नाटको के विदूषकों की स्पष्ट छाया है। राज-सहचर होने के साथ ही वह राजा की प्रेम-लीलाओं में उसका सहयोगी और सलाहकार है तथा भोज्य पदार्थों में उसकी तीव्र अभिरुचि है। चन्द्रलेखा के यहाँ राजा के साथ जाते उसे बड़ी जोर की भूख लगती है। दूसरों के यहाँ भोजन करने की तो उसमें तीव्र तत्परता है पर अन्य लोगों को अपने यहां खिलाने का नाम सुनते ही वह मानों आसमान ही सर पर उठा लेता है। इससे उसकी कृपणता का भी परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूषकों का चारित्रिक पतन इस कोटि का नहीं होता जैसा कि पिङ्गल का है अतः वे नाटक के सम्मानित पात्र होते हैं। अभिज्ञान शकुन्तला का विदूषक-माधव्य-राजमाता के लिए पुत्रवत् सम्मानित है। महापिङ्गल को नरदेव की रानी कुटिल सभासद् के रूप में देखती है और स्वयं उसके दण्ड-विधान का आदेश देती है। अतः आदर्श रक्षा हेतु पिंगल ऐसे खलपात्र की मृत्यु नाटक के अन्तर्गत प्रदर्शित करना अनुचित नहीं है।

सत्यशील

सत्यशील एक बौद्ध महन्त है। उसके चरित्र में बौद्धों के सात्विक गुणों का सर्वथा अभाव है तथा उनके स्थान पर महन्तों के दुर्गुणों का ही प्राधान्य है। करुणा, क्षमा, उदारता, परोपकार, विश्वमैत्री आदि सात्विक बौद्ध-जीवन की विशिष्टताओं के स्थान पर उसमें स्वार्थ, लोभ, पाखण्ड, दुराचार, क्रूरता आदि प्रबल रूप से वर्तमान हैं। नागों की अपहृत भूमि विहार के लिये प्राप्त कर वह उसका उपभोग बड़े अधिकार-पूर्ण ढङ्ग से करता है। उसे अपने खेतों की पगडण्डी पर से भी किसी का निकलना सह्य नहीं है। वह सुश्रुवा नाग को पगडण्डी पर से निकलने के कारण बड़ी उल्टी सीधी बातें कहता है और उसे बँधवा लेता है तथा विशाख को खेत मे खड़ा देख कर उससे भी उलझ पड़ता है।

सत्यशील पाखण्डी, दुर्विनीत और डरपोक भी है। वह दूसरों के समक्ष अपनी धार्मिकता प्रकट करने के लिए कहता है—"इससे हमारे जैसे अनेक धार्मिक और निरीह व्यक्तियों का निर्वाह होता है ······ ···" परन्तु वह वास्तव में न तो धार्मिक है और न निरीह। ऐश्वर्य के उपभोग से विलासिता और अनीति का भी अतिचार उसके चरित्र में है। सुश्रुवा नाग को बाँधते समय उसकी कन्या चन्द्रलेखा पिता की रक्षा के लिए आजाती है। सत्यशील उसके रूप-लावण्य को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है, तथा सुश्रुवा को छोड़ कर उसे पकड़ ले जाता है और विहार की एक कोठरी में बन्द कर देता है। विशाख के मुँह से उसकी क्रूर पापलीला सुनकर जब प्रेमानन्द उसे समझा बुझाकर चन्द्रलेखा को छोड़ने का आग्रह करता है तब वह उनसे ही बड़ी अशिष्टता के साथ व्यवहार करता है और चन्द्रलेखा को नहीं छोड़ता। पाप और

अत्याचार का जीवन बालू की भीत के समान क्षणिक होता है। राजा नरदेव, विशाख द्वारा सत्यशील के क्रूर एवं पापमय जीवन की गाथा सुनकर स्वयं सत्यशील के विहार में आता है और चन्द्रलेखा को उसके चंगुल से मुक्त कराता है। सत्यशील मिथ्या भाषण द्वारा अपने बचाव का प्रयत्न करता है। वह राजा से कहता है—'नरेश यह प्रव्रज्या ग्रहण करने आई थी।' किन्तु उसके पापों का पर्दा खुल जाता है और राजा उसे बन्दीगृह में डलवाकर उसके विहार में आग लगवा देता है। इस प्रकार उसे अपने कुत्सित जीवन का सम्पूर्ण प्रतिफल प्राप्त होजाता है।

नाटककार ने सत्यशील के जीवन में महन्तों के स्वार्थी विलासी और प्रवञ्चनापूर्ण जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत की है। यद्यपि उसका चरित्र विस्तार की दृष्टि से अल्पतर है फिर भी महन्तों के सामान्य जीवन के अनेक दुर्गुणों का प्रत्यक्षीकरण उसके द्वारा स्पष्टता के साथ हुआ है। सत्यशील का दुःशील चरित्र मानों प्रेमानन्द सदृश सात्विक बौद्ध भिक्षु के चरित्र का प्रतिरूप है और इससे अपर का चरित्र-गौरव द्विगुणित होगया है।

सुश्रुवा (नाग)

नागराज सुश्रुवा शोषित और उत्पीड़ित है। उसके पूर्वजों की समस्त भूमि राजा द्वारा अपहृत कर बौद्ध बिहारों को दान कर दी गई है। अतः वह अत्यन्त अकिञ्चन और निरीह दशा में है। उसे अपने पूर्वजों की भूमि पर चलने का भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। बौद्ध महन्त सत्यशील उसे खेत की पगडण्डी पर चलने के कारण ही मारता है और बाँधने का उद्योग करता है। उसकी कन्या चन्द्रलेखा को महन्त के आदमी उसके सामने ही बांधकर पकड़ लेजाते हैं।

सुश्रुवा नाग में, अकिञ्चन होने पर भी स्वाभिमान और पूर्व गौरव की भावना विद्यमान है। महन्त के द्वारा अत्यन्त कदर्थित किए जाने पर उसका स्वाभिमान गरज उठता है। वह भिक्षु से ललकार कर कहता है—"तुम जानते हो मैं वही सुश्रुवा नाग हूं जिसके आतङ्क से यह रमणीक प्रदेश थर्राता था। अभी भी तुम्हारे जैसे कीड़ों को मसलने के लिए इन बूढ़ बाँहों में कम बल नहीं है।" सुश्रुवा के इस ओजस्वी व्यक्तित्व का विकास नाटक में आगे नहीं हुआ। रमणी के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि वह कहीं बाहर चला जाता है तथा राजा उसकी सम्पत्ति लौटा देते हैं। सुश्रुवा को हम पुनः एक दुःखद दृश्य का साक्षात करते हुए देखते हैं। उसके सामने ही राजा के अनुचर उसके जामाता विशाख और कन्या चन्द्रलेखा को महापिंगल की हत्या के अपराध में पकड़ लेजाते हैं। सुश्रुवा इस घटना पर खेद प्रकट कर ही रह जाता है "चन्द्रलेखा गई, विशाख भी गया हा ⋯।" राजा नरदेव के दरबार में सुश्रुवानाग एक विनीत प्रार्थी के रूप में ही दिखाई पड़ता है—"आपके सैनिकों ने मेरी कन्या चन्द्रलेखा और जामाता विशाख को अकारण पकड़

रखा है उसे छोड़ दीजिए।" वस्तुतः सुभ्र ुवा का चरित्र विकास अत्यन्त अल्प और साधारण कोटि का है। उसकी ओजस्विता स्वाभिमान पराक्रम आदि प्रदर्शन के जो स्थल नाटकीय वस्तु में हैं वहाँ भी उसके व्यक्तित्व को गौण ही रखा गया अतः उसका चरित्र महत्वशून्य प्रतीत होता है।

—※—

चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा अकिञ्चन सुन्दरी तथा अत्यन्त सरल स्वभाव की युवती है। वह एक प्रतिष्ठित नागकुल की कन्या है अतः अभिजात्य गुण—आचरण की पवित्रता, आतिथ्य—भावना, मर्य्यादाभाव आदि उसके चरित्र में है। 'विशाख' के सभी पात्रों में चन्द्रलेखा का चरित्र ही अधिक विस्तार से अङ्कित किया गया है। नाटक के नायक से उसका परिणय होता है तथा नाटक की अधिकांश प्रमुख घटनाएँ उसके जीवन—विकास से सम्बन्धित हैं। नाटक के नायक विशाख का सत्यशील, नरदेव आदि से संघर्ष, चन्द्रलेखा के विषय में ही होता है। अत. चन्द्रलेखा ही नाटक की नायिका है।

नाटक के प्रारम्भ में चन्द्रलेखा अपनी बहन इरावती के साथ अत्यन्त मलिन वेश में उदरपूर्ति के लिए खेत से सेम की फलियाँ तोड़ती हुई दिखाई पड़ती है। उदर-ज्वाला से पीड़ित होने के कारण ही लोकदृष्टि में तथाकथित निन्दनीय कर्म में प्रवृत्त होने पर भी उसमें अभिजात्य का सङ्कोच और लज्जा है। विशाख के साधारण ढङ्ग से टोक देने पर ही वह भयभीत होकर आँचल से सब फलियाँ उगल देती है तथा अत्यन्त कातर भाव से कहती है—"क्षमा कीजिए, मैं अब कभी न इधर आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है, इसीसे आज सेम की फलियाँ पेट भरने के लिए अपने-बूढ़े बाप की रक्षा करने के लिए, तोड़ ली हैं। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूं।" विशाख की सहज सौम्य मूर्ति चन्द्रलेखा के मानस में अङ्कित हो जाती है। वह विशाख की निर्भीकता और परदुःखकातरता से अत्यन्त प्रभावित होती है। सत्यशील के विहार की कोठरी में बन्द वह विशाख के प्रेम में ही विभोर है। उस कुत्सित कोठरी में बन्द वह उसी स्वर्ग का आनन्द लेती है। फिर तो वहाँ से मुक्त होने पर विशाख द्वारा किञ्चित प्रणय-चर्चा करते ही

वह उसके सामने अपना हृदय हार जाती है। विशाख के प्रति उसका प्रेम अखण्ड है। उसे बड़े से बड़े प्रलोभन, प्रवञ्चना आदि अपने सुदृढ़ प्रेम-भाव से विचलित नहीं करते। महापिंगल और नरदेव द्वारा प्रदर्शित राजरानी बनने के सब्ज़बाग़ को वह ठुकरा देती है। वह चैत्य मे प्रवञ्चक भिक्षु की देववाणी के रूप मे आई हुई आज्ञा की उपेक्षा कर देती है। वह अपने पति की मङ्गलकामना के लिए अर्धरात्रि मे चैत्य में अकेले ही दीपक रखने जाती है। वह अपने पति का साथ घोर सङ्कट-काल मे भी नहीं छोड़ती। जब महापिंगल की हत्या करने के अपराध में राजा के अनुचर विशाख को पकड़ कर ले जाने लगते हैं तो चन्द्रलेखा भी स्वेच्छा से ही बन्दिनी हो उसके साथ जाती है। उसे अपने पति विशाख पर इतना अनन्य अनुराग है कि वह उसे अपने से बिलकुल प्रथक नहीं करना चाहती। विशाख को प्राप्त कर लेने के बाद विश्व में उसकी अन्य कोई कामना नहीं है। उद्योग के लिए बाहर जाने को उत्सुक विशाख से वह कहती है—'मुझे तो जीवनधन ! तुम्हे पा जाने पर और किसी की आवश्यकता नहीं।' xxxx "मैं क्या जानूँ कि संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हे चाहती हूँ। संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बाते आ जायें।" चन्द्रलेखा के इस द्वितीय कथन से विशाख के प्रति उसके प्रेम की अनन्यता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में सरलता एव मनुष्यमात्र के प्रति सम्मानपूर्ण सहानुभूति है। महपिंगल और राजा नरदेव को अपने घर में आया देखकर वह अपनी स्वाभाविक सरल प्रकृति के अनुरूप उनके प्रति सम्मान प्रकट करती है। और उनका समुचित आतिथ्य करती है। पर इसके साथ ही उसमें सतीत्व और आत्मसम्मान की रक्षा की दृढ़ता भी पर्याप्त है। महापिंगल और राजा की बातों से उन्हे प्रवञ्चक और अपने सतीत्व का लुटेरा समझ कर वह कठोर शब्दों में उनकी भर्त्सना करती है। तथा राजा से डाँट कर कहती है—"राजन् मुझसे अनादृत न हूजिए बस, यहाँ से चले जाइये।"

इसके पहिले भी कानीर विहार में सत्यशील के प्रलोभनों को ठुकराकर चन्द्रलेखा अपने चरित्र की पवित्रता एवं उज्जवलता का परिचय देती है ।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में नारी-हृदय की एक दुर्बलता है । वह आकस्मिक घटनाओं से घबड़ाकर भयभीत हो जाती है । चैत्य में दीप के बुझते ही वह त्रस्त हो जाती है, तथा आड़ में बैठे हुए भिक्षु की आवाज एवं गर्जना सुनकर वह घबड़ाकर गिर जाती है । वीर नारियों की सी साहसशीला प्रकृति का उसमे अभाव है । चन्द्रलेखा का चरित्र समष्टि रूप से यद्यपि अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है । किन्तु उसके स्वभाव की सरलता, हृदय की कोमलता तथा उसके प्रेम की अनन्यता जिस स्वाभाविक रूप में प्रदर्शित की गई है उससे उसका व्यक्तित्व नाटक के अन्य स्त्री-पात्रों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं आकर्षक होगया है ।

इरावती

इरावती, चन्द्रलेखा की बहिन है। उसका चरित्र-विकास अत्यल्प है। वह अपनी बहिन के दुःख और सुख में दुःखी और सुखी है। उसे हम चन्द्रलेखा के साथ ही सेम की फलियाँ तोड़ते देखते हैं। वह विशाख को अपना और चन्द्रलेखा का परिचय देती है। चन्द्रलेखा और विशाख का प्रणय सम्बन्ध स्थापित होने पर इरावती विनोदपूर्ण आनन्द प्रकट करती है। तथा जब विशाख और चन्द्रलेखा, नरदेव के यहाँ बन्दी होकर चले जाते हैं तो वह घोर विषाद और चिन्ता में डूबी हुई दिखाई पड़ती है—"चन्द्रलेखा को लेकर इतना बड़ा उपद्रव हो जायगा कौन जानता था·· ·· ··।" नाटक में इरावती की स्थिति चन्द्रलेखा एवं तद्विषयक कुछ घटनाओं का परिचय कराने मात्र तक है। नाटककार ने उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं का निदर्शन कराते हुए उसके चरित्र का विकास नहीं किया। अतः वह नाटक की एक अत्यन्त साधारण स्त्री-पात्र है।

रानी

राजा नरदेव की स्त्री नाटक में केवल एक ही बार प्रकट होती है। किन्तु एक ही बार के साक्षात्कार में उसके स्वभाव की स्पष्टता, निर्भीकता एवं पतिपरायणता का सुन्दर आभास मिल जाता है। एक ओर तो वह अपने पति के विलासी और अनीतिपूर्ण जीवन की विनम्रतापूर्ण आलोचना करती है—'राज्य की व्यवस्था देखिए कैसी शोचनीय है। आपकी मानसिक अवस्था तो और भी।" तथा दूसरी ओर वह पूर्ण तेजस्विता के साथ महापिंगल सदृश कुटिल चाटुकारों की लम्बी खबर लेती है। उसके (रानी के) समक्ष ही जब भिक्षु द्वारा महापिंगल की कुटिलता की कलई खुलती है तो वह तत्काल अनुचरों को पिंगल को बाँधने का आदेश देती है। कामान्ध राजा नरदेव अपनी रानी की बातों पर ध्यान नहीं देता और महापिंगल को बन्धन-मुक्त करा देता है। अतः एक सच्ची पतिपरायणा स्त्री की भाँति वह पति की कल्याण भावना से अत्यन्त मुखर होती हुई राजा को यह निर्देश करती है "ऐसी कुटिल सभासदों का साथ छोड़िए" तथा अन्तिम रूप से यह चेतावनी देती हुई कि—'परिणाम बड़ा भयङ्कर होने वाला है; वह चली जाती है।

तरला

तरला नाटक के खलपात्र महापिंगल की स्त्री है। वह अपने बूढ़े एवं कामी पति पर पूर्ण शासन करती है। महापिंगल अपनी भयानक आकृति वाली कुरूपा स्त्री से बहुत डरता है। तरला भी महापिंगल के चरित्र और स्वभाव की दुर्बलता का लाभ उठाकर उसकी बहुत दुर्दशा करती है। वह उसकी कठोर व्यंग्यपूर्ण शब्दों से भर्त्सना ही नहीं करती, वरन् उसके बाल नोचती है और धौल जमाती है। तरला में निम्न कोटि की स्त्रियों की सभी दुर्बलताएँ और दुर्गुण हैं। उसे क्षुद्र प्रकृति की स्त्रियों की भाँति गहनों से बड़ा मोह है। वह गहनों के लोभ में पड़कर पति के दुर्गुणों की भी उपेक्षा कर देती है। महापिंगल ज्योंही उसे चन्द्रहार लाने का लालच देता है कि वह उसके अवगुणों को भूलकर उसका मनुहार करने लगती है और उसके स्वर में स्वर मिलाकर गाती है-

"लगा दो गहने का बाजार।

कुछ चिन्ता है नहीं और क्या, मिले नहीं आहार।"

तरला सोने के लालच में इतनी अन्धी है कि भिक्षु निर्भयानन्द की मिथ्या प्रवञ्चना में पड़कर वह अपना सारा चाँदी का जेवर उसे सोना बनाने को देती है। लालच का फल सदैव बुरा होता है। सोने के लोभ में पड़कर तरला अपना सारा चाँदी का गहना खो बैठती है तथा पति से हाथ धोने के बाद ही वह अपनी सम्पत्ति भी गंवा बैठती है। स्वर्ण और आभूषणों की अत्यन्त लोभी स्त्रियों की यह दुरवस्था परम स्वाभाविक है। नाटककार ने मानों इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराने के लिए नाटक में तरला के चरित्र की अवतारणा की अन्यथा नाटकीय कथावस्तु एवं व्यापारों से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

विलास

'कामना' नाटक के पुरुष-पात्रों में विलास का चरित्र सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। फूलों के द्वीप में उसके पदार्पण करते ही उसका प्रभाव क्रमशः प्रसारित होने लगता है। द्वीप की प्रधान स्त्री कामना ही सर्वप्रथम उससे प्रभावित होती है। तत्पश्चात द्वीप के प्रायः सभी नर-नारी उसके उपदेशों और आदेशों को मन्त्रवत ग्रहण करते हैं। वह अपने बुद्धि-कौशल द्वारा द्वीप में सुरा और स्वर्ण पर आश्रित नवीन सभ्यता का चतुर्दिक प्रचार कर उसपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त करता है।

विलास 'अपने शापग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की ज्वाला से दग्ध होकर' निकलता है। वह फूलों के द्वीप मे आकर वहाँ के निवासियों की सरलता निश्छलता आदि को देखकर विस्मय विमुग्ध हो जाता है। विलास महत्त्वाकाँक्षी है। अत. वह कठोर संकल्प करता है—"ऐसी सीधी जाति पर शासन न किया, तो पुरुषार्थ ही क्या ? इनमें प्रभाव फैलाकर अपने नये व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा।" इस संकल्प के उदय होते ही उसे अपनी छाया से यह संकेत भी प्राप्त हो जाता है—"बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली-भाली जाति को पतित नहीं बना सकता।"

संकल्प और साधनों के सुनिश्चित हो जाने पर विलास अपने कूट-कौशल द्वारा बड़ी तत्परता से लक्ष्य-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। विवेक के कथनानुसार उसकी तीक्ष्ण आँखों में कौशल की लहर उठती है। "मुस्कराहट में शीतल ज्वाला और बातों में भ्रम की बहिया है।" कामना तो उसके प्रथम साक्षात्कार के बाद ही उसके रूप वैभव

के कारण उस पर मुग्ध हो जाती है। वह अपने सुरक्षित स्वर्ण के आलोक से द्वीप निवासियों की आँखों में चकाचौंध पैदा कर उन्हें भी अपनी ओर बरबस आकर्षित कर लेता है। विनोद, लीला तथा अधिकांश द्वीप निवासी-उसकी दासता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। वह एकाएक द्वीप का नेतृत्व प्राप्त करना कठिन समझता है, कामना को द्वीप का नेतृत्व प्राप्त है; अतः वह यह निश्चय करता है—"जब तक कामना इस पद पर है, उसी बीच में अपना काम कर लेना है।" वस्तुत कामना उसके कार्य्यसाधन की टट्टी है। वह उसकी उंगलियों पर नाचती है और इशारों पर चलती है। वह उसी को द्वीप की रानी बनाकर अपनी योजनाएँ प्रचारित करता है और अपना प्रभाव विस्तृत करता है।

विलास इतना कार्य कुशल है कि वह अपनी मूल योजना को सहसा सामने नहीं लाता। प्रत्येक योजना को वह एक भूमिका द्वारा प्रस्तुत करता है। कामना को रानी बनाने के पूर्व वह द्वीप-निवासियों के खेलों में कामना को रानी बनाता है और उसकी आज्ञा-पालन का निर्देश करता है। इसी प्रकार द्वीप निवासियों में हिंसक वृत्ति का प्रचार करने के लिए वह बन पशुओं को भयभीत करने का निर्देश करता है। वह इसे विनोद और व्यायाम का सुगम साधन बताकर पशुओं की निर्मम हत्या कराता है और इस प्रकार हत्या, क्रूरता आदि का उनमें प्रचार करता है। वह अपनी योजनाओं के प्रस्ताव बड़े सरल और स्वाभाविक तर्कों और युक्तियों के साथ प्रस्तुत करता है जिसके कारण समस्त द्वीप-वासी उसकी बातों को स्वीकार कर लेते हैं। द्वीप में प्रथम बार राज्य-सत्ता स्थापित कर राज्यादेश मान्य ठहराने में उसे कुछ विरोध और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कामना ही जब उससे पूछती है—"तुमने मुझे रानी क्यों बनाया ?" तब वह उसे समझाता है—"रानी, तुमको इसीलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्तन करो। इस नियम पूर्ण

संसार में क्या अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करना मूर्खता नहीं है ?" इसी प्रकार वह नाटक के द्वितीय अङ्क के पाँचवें दृश्य में अपनी विस्तृत तर्कयुक्त वक्तृता द्वारा समस्त द्वीप वासियों को राज्यपद की आवश्यकता का बोध कराता है । राज्यशक्ति की स्थापना करने के बाद वह स्वयं प्रधान मन्त्री बन कर अन्य राज्याङ्गों की स्थापना करता है । कारागार, संग्रहालय, न्यायालय सेना आदि की स्थापना के द्वारा द्वीप पर उसका प्रभुत्व क्रमशः दृढ़ हो जाता है ।

विलास अपने स्वार्थ साधन में इतना पटु है कि वह अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी प्रभाव अपने ऊपर नहीं जमने देता । कामना विलास पर पूर्णतया अनुरक्त है । वह बड़ी उत्कंठा पूर्वक विलास के साथ अपने विवाह की अकांक्षा करती है । किन्तु विलास अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय-समर्पण नहीं कर सकता ।" अतः वह कामना के समक्ष उसके झूठे महत्व का पर्दा खींच कर कहता है—"मैं तुम्हें ही इस द्वीप की एकच्छत्र अधिकारिणी देखा चाहता हूं । × × × × तुम द्वीप भर में कुमारी ही बनी रहकर अपना प्रभाव विस्तृत करो यही तुम्हारे रानी बने रहने के लिए पर्याप्त कारण हो जायगा ।"

विलास का हृदय क्रूर और कलुषपूर्ण है । वह शान्तिदेव की हत्या करने वालों का दण्ड-विधान करते हुए निर्देश करता है—"इसका दण्ड भी ऐसा होना चाहिए कि देख कर लोग काँप उठे, फिर कोई ऐसा दुस्साहस न करे ।" वह द्वीप के पड़ोसी प्रदेश पर नृशंस आक्रमण कर वहाँ हत्या और रक्तपात का नग्न ताण्डव करता है तथा पराजित देश के सेनापति और उसकी स्त्री की क्रूरता-पूर्वक हत्या करवाता है ।

विलास यथार्थ में प्रकृत्या विलासी है । कामना को अपना कर भी वह संतुष्ट नहीं होता । उसको चाहिए 'बिजली के समान वक्ररेखाओं का सृजन करने वाली, आँखों को चौंधिया देने वाली तीव्र और विचित्र

ज्वाला' और इसी से वह 'गर्व-पूर्ण और सरल-हृदय की स्त्री' कामना के सम्पर्क में रहते हुए भी लालसा के कटाक्षों से घायल हो उसके समक्ष प्रणय-आकुलता व्यक्त करता है और उसके समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करता है। वह लालसा से दिल खोलकर कहता है—"मेरी जीवन-यात्रा में इसी बात का सुख था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई; परन्तु वह झूठा गर्व था।" लालसा को अपनाने पर भी उसकी कामुकता प्रशमित नहीं होती। वह शत्रु-सेनापति की स्त्री पर भी अपनी पाप-दृष्टि डालता है और उसे बल-पूर्वक अपनाने की चेष्टा करता है। अपने प्रयत्नों में असफल होने पर विलास प्रतिहिंसा-प्रेरित हो उस स्त्री की क्रूरता-पूर्वक हत्या करवा देता है।

विलास अपनी महत्वाकांक्षा का महल अनीति और अनाचार की की नींव पर खड़ा करना चाहता है। उसकी कुशाग्र बुद्धि के कारण सरल-हृदय द्वीप-निवासियों के बीच उसकी दुर्नीत-लता कुछ समय के लिए खूब फलती है। उसके साथी दम्भ, दुर्वृत, क्रूर आदि उसकी सघन छाया में खूब फलते-फूलते हैं। किन्तु उसकी दुर्नीति से प्रतिफलित अपराधों की आंधी और कुचक्रों का वात्याचक्र उसके बालुकामय महत्वाकांक्षा के प्रासाद को भूमिसात कर देते हैं। नवीन सभ्यता के विकास से प्रादुर्भूत पारस्परिक ईर्ष्या, मात्सर्य, प्रमाद, वासना, अनाचार का नग्न नृत्य द्वीप निवासियों को असह्य हो जाता है। विवेक की प्रबलहुँकार उनकी मोहनिद्रा को भङ्ग कर देती है। विलास के हाथों की कठपुतली कामना ही उसके अधिकार से मुक्त होकर उसकी विडम्बनाओं का खुला तिरस्कार कर देती है। द्वीप में राजा बनने का विलास का स्वप्न भङ्ग हो जाता है। विवेक और संतोष की सङ्गठित शक्ति के विरुद्ध अपनी डगमगाती हुई सत्ता को डूबने से बचाने का उसका अन्तिम क्षीण प्रयत्न अत्यन्त निष्फल सिद्ध होता है। अन्त में द्वीप से पलायन करके भी वह अपनी प्राणरक्षा नहीं कर पाता। उसने द्वीप में जिस स्वर्ण का प्रभूत प्रचार कर उसे

अपना अनुगामी बनाया था, द्वीप-निवासियों द्वारा उसकी नौका पर फेंका गया वही स्वर्ण समुद्र गर्भ में उसकी अनन्त समाधि का कारण बन जाता है।

विलास का चरित्र व्यापकता एव प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। नाटक में वर्णित फूलों के द्वीप की समस्त नवीन हलचलों का केन्द्र विलास है। यद्यपि वह द्वीप में अपनी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में असफल होता है फिर भी वह अपने अद्भुत वाक्-विभ्रम और तीक्ष्ण बुद्धि-कौशल से द्वीप के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के उपकरण और उपादान प्रचलित करने में बहुत दूर तक सफल होता है। रानी से लेकर सामान्य स्त्री पुरुष तक उसके आदेशों और मंत्रणाओं को नत-मस्तक हो स्वीकार करते हैं। जीवन में उसकी असफलता का मूल कारण सम्भवत लालसा के समक्ष उसकी पराजय स्वीकृति है। लालसा को अपनाकर वह कामना की सहानुभूति सर्वथा खो बैठता है। लालसा की विलासिता के प्रवाह को रोकने में वह स्वयं भी असमर्थ होता है। शत्रु सेनापति से लालसा को प्रणय-भिक्षा माँगते देखकर भी वह उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर पाता। अतएव लालसा जनित वासनाओं की बढ़िया में उसकी महत्वाकांक्षा के महल की नींव खोखली हो जाती है। विलास के चरित्र द्वारा, मानव जाति के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के प्रसार की विविध दिशाओं एवं तज्जन्य दुरावस्थाओं का चित्रण ही नाटककार का परम अभीष्ट है और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है।

विवेक

फूलों के द्वीप में विवेक अपनी सूक्ष्म तत्वदर्शिनी बुद्धि के कारण विलास के प्रभाव में नहीं आता। वह निर्भीक साहसी और स्पष्ट वक्ता है। वह विलास द्वारा प्रचारित नवीन सभ्यता के माया जाल की विभीषिका को भली भांति समझता है और द्वीप निवासियों को निरन्तर उसका परिचय कराता रहता है। विलास के मुख से वह प्रथम बार अपराध और पापों की चर्चा सुनते ही कह बैठता है—"परिवर्तन! वर्षा से धुले हुए आकाश की स्वच्छ चन्द्रिका, तमिस्रा से—कुहू से बदल जायगी। बालकों के-से शुभ्र हृदय छल की मेघ माला में ढंक जायगे।" ज्यों-ज्यों द्वीप में विलास कृत विडम्बना का प्रसार होता है त्यों-त्यों विवेक का विरोध भी प्रबल होता जाता है। उसके हृदय में द्वीप के प्रति वास्तविक कल्याण-भावना है अतः वह अपने हृदय की बात दूसरों के समक्ष निर्भीकता-पूर्वक कहने में नहीं हिचकता। वह द्वीप निवासियों की आँखों का परदा हटाते हुए उन्हें वास्तविकता का परिचय कराता है—"व्यभिचार ने मुझे स्त्री-सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है और मदिरा उस पर रङ्ग चढ़ाती है।"

विलास के स्वर्ण और सुरा की ओर विवेक हाथ नहीं बढ़ाता अत द्वीप के अन्य निवासियों की अपेक्षा वह आडम्बर शून्य रूप में रहता है। द्वीप-निवासी उसके नितान्त सादे वेप को देखकर उसकी उपेक्षा करते हैं। उसे अस्पृश्य, गन्दा, अछूत आदि कहकर उसका खुला तिरस्कार करते हैं। उसकी भर्त्सना युक्त कठोर बातों के कारण उसे पागल की उपाधि प्रदान की जाती है और सभी जगहों से उसे बहिष्कृत किया जाता है। वह अपने लिए पागल के सम्बोधन का स्वागत करता है—"मैं

पागल हूँ ! अच्छा है जो सज्ञान नहीं हूं, इस बीभत्स कल्पना का आधार नहीं हूं ।"

द्वीप में न्याय के नाम पर प्रचारित नृशंस हत्या के विरुद्ध विवेक की आत्मा तड़प उठती है। एक विद्रोही की भांति पशुता का प्रतिकार करने के लिए वह मृत्यु की भी किञ्चित परवाह न कर कामना और विलास के समक्ष ही ललकार कर कहता है—"मेरी भी इस खुली छाती पर दो-तीन तीर ! रक्त की धारा वक्षस्थल पर बहेगी, तो मैं भी समझूंगा कि तपा हुआ लाल सोने का हार मुझे उपहार में मिला है। रानी के सभ्य राज्य का जय-घोष करूंगा। लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे ? तुम पहले इससे क्या विशेष असभ्य थे ? आज शासन-सभा का आयोजन करके सभ्य कहने वाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुंधला अतीत इससे उज्जवल था।" विवेक अपनी सत्यासत्य निरूपणी वाणी का गम्भीर घोष द्वीप के प्रत्येक निवासी प्रत्येक स्त्री-पुरुष, कामना, विलास, विनोद आदि सभी के समक्ष करता है। वास्तव में वह सत्य-ज्ञान का मानो एक प्रकाश-पिण्ड है जो अपने आलोक से द्वीप-निवासियों को सत्पथ का निर्देश करता है और अपनी प्रखर उष्णता से उनके मृतप्राय विलास जर्जर शरीरों मे नैसर्गिक शक्ति-सुधा का संचार करता है।

विवेक केवल वाक्शूर नहीं है। वह कठोर कर्मक्षेत्र मे अवतरित होकर अपनी सेवा और सङ्गठन-शक्ति के द्वारा पीड़ितों को नव जीवन प्रदान करता है तथा उनमे वास्तविक चेतना को सचेष्ट कर द्वीप के उद्धार के लिए वह उन्हें सङ्गठित करता है। युद्ध मे घायल व्यक्तियों की चिकित्सा करके वह उन्हें निरोग ही नहीं करता वरन् वह उन्हें सर्वथा अपने अनुकूल बना लेता है। पीड़ितों की रक्षा के लिए उसमे शारीरिक बल और दृढ़ता भी पर्याप्त है। वह एक सैनिक से बालिका की रक्षा कर अपने शारीरिक बल का परिचय देता है। सैनिक द्वारा दी हुई मृत्यु की

धमकी की लेशमात्र चिन्ता न करते हुए वह उसकी चुनौती को स्वीकार करता हुआ कहता है—"दूसरे की रक्षा में, पाप के विरोध और परोपकार करने में प्राण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान को होता है? नीच! आ देखूं तो।" विवेक झपट कर सैनिक का खड्ग-युक्त हस्त पकड़ लेता है और विवश होकर उसकी आधीनता स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह दुराचारियों के हाथों से सन्तोष और करुणा के जीवन और मर्य्यादा की रक्षा करता है।

विलास की वासना-आँधी में विवेक वाणी कुछ समय तक तो अवश्य अरण्यरुदन सिद्ध होती है पर धीरे धीरे द्वीप-निवासी उसकी बातों का रहस्य समझने लगते हैं। कामना को तो उसकी बातें सुनकर सिर में पीड़ा होने लगती है। विलास भी उसकी बातों पर विचार करने को कहता है। विनोद तो विवेक की बातों से प्रभावित होकर मधुर-मिलन के अभिनय का मङ्गल-पाठ पढ़ने की घोषणा मुक्तकण्ठ से करता है। अन्त-तोगत्वा कामना, विवेक से लिपट कर ही वास्तविक शांति प्राप्त करती है और इस प्रकार विवेक के उद्योग से ही द्वीप का पुनरुद्धार होता है।

संतोष

सन्तोष गम्भीर और शान्त प्रकृति का पुरुष है। वह अपने लिए प्रस्तुत स्वल्प साधनों से सन्तुष्ट रहने वाला है। अनन्त जलराशि का अतिक्रमण कर वह नवीन सुख-साधनों की इच्छा नहीं रखता। उसे अपना अविवाहित जीवन भी दूभर नहीं प्रतीत होता और वह विनोद से स्पष्ट शब्दों मे कहता है—"मैं सन्तुष्ट हूँ–मुझे ब्याह की आवश्यकता नहीं।"

सन्तोष के हृदय मे कामना के प्रति वास्तविक अनुराग है। वह जब लीला द्वारा कामना और विलास के विवाह की चर्चा सुनता है, तो उस पर सहज ही विश्वास नही करता और उसका विरोध करने का भी वह विचार करता है। नाटक के तृतीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में वह स्वय अपना प्रणय-भाव कामना के प्रति स्पष्ट करता है; कामना के प्रति अनुराग रखते हुए भी वह उसकी चञ्चल भावभङ्गियों के कारण उसके प्रति उदासीनता ही पहिले प्रकट करता है—"मैं तो उससे अलग रहा चाहता हूँ।" किन्तु कामना के प्रति उदासीन होने पर भी वह लीला के प्रणय-प्रस्ताव को सहसा स्वीकार नहीं करता। लीला यद्यपि बड़े उल्लासपूर्ण शब्दों में उससे कहती है—"हाँ प्रियतम इस पूर्णिमा को हम लोग एक हो जॉयगे।" पर सन्तोष उससे यही कहकर टाल देता है—"तो मैं विचार करूँगा। तुम्हारे पथ पर मैं चल सकूँगा।" सन्तोष के इस कथन से उसके स्वभाव की गम्भीरता तथा व्यक्तियों के परखने की शक्ति भी व्यंजित होती है। कामना अपनी उद्दाम वासनाओं की मृगतृष्णा मे जब चारों ओर से सन्तप्त होकर मनःपूत हो जाती है और नैसर्गिक जीवन में वास्तविक सुख और शान्ति अनुभव करने लगती है तब उसकी सारी चञ्चलता दूर हो जाती है। संतोष, कामना को सर्वथा प्रकृतिस्थ

देखकर उसे सहर्ष स्वीकार करता है।

संतोष के चरित्र में नाटककार ने आरम्भ में उसकी स्वभावगत कुछ विशिष्टताओं का ही निर्देश किया है। वह द्वीप की हलचलों मे कोई विशेष भाग लेता नहीं दिखाई पड़ता। केवल एक स्थान पर वह विलास की प्रत्यक्ष आलोचना करता एवं द्वीप के पतन पर खेद प्रकट करता हुआ दिखाई पड़ता है। किन्तु आगे चलकर लोक-सेवा के कार्यों मे उसे हम संलग्न देखते हैं। मृतक शान्तिदेव की आश्रय-विहीन बहिन करुणा की सहायता में वह पूर्ण उत्साह से तत्पर होता है। वह करुणा को मृदुल शब्दों मे सान्त्वना देते हुए कहता है—"जिसका कोई नहीं है, मैं उसी का होकर देखूँगा कि इसमें क्या सुख है।" वह करुणा के साथ उसके खेतों में परिश्रम-पूर्वक कार्य करता है तथा उसके लिए अनेक कष्ट सहता हुआ वह दुर्वृत्त व्यक्तियों से उसके चरित्र और सम्मान की रक्षा करता है। वैभव और प्रभुत्व की रक्षा के लिए विलास के अन्तिम प्रयासों को वह अपने सैन्यबल से विफल करता है।

'कामना' नाटक का नायक संतोष ही माना जायगा। उसमें धीरोदात्त नायक के अधिकांश गुण हैं और नाटक के अन्त होने पर नायिका कामना की उपलब्धि उसी को होती है। उसके प्रयत्नों से ही प्रतिनायक विलास का अन्त होता है। यद्यपि विलास की अपेक्षा उसका चरित्र विकास स्वल्प है; विलास के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के समक्ष उसका व्यक्तित्व चेष्टा विहीन एवं प्रभावशून्य प्रतीत होता है, फिर भी नाटक के प्रारम्भ और अन्त मे उसकी जो स्थिति है, नाटक की परिणति में उसका जो महत्वपूर्ण भाग है तथा नायिका कामना से उसका जो घनिष्ट सम्बन्ध है उसके कारण हमें उसे ही नाटक का नायक मानने को विवश होना पड़ता है।

विनोद

विनोद सरल और सच्ची प्रकृति का पुरुष है। फिर भी वह नवीनता और परिवर्तन का प्रेमी है। उसे अपनी गृहस्थी ब्याह के बिना सूनी प्रतीत होती है, अतः वह लीला की सरलता पर प्रसन्न ही नहीं वरन् मुग्ध होकर, उससे ब्याह करना चाहता है। किन्तु जब लीला, सन्तोष की ओर झुकने लगती है तो वह सन्तोष की मित्रता के नाते उससे मिलना भी बन्द कर देता है। फिर भी कामना के प्रयासों से उसका विवाह लीला से हो ही जाता है। लीला से विवाह होने के बाद विनोद के जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। वह लीला के प्रेम-बन्धन में पड़कर उसके कहने से कामना द्वारा दी हुई पेया को स्वीकार करता है और वह स्वर्ण के लोभ से विलास की दासता भी स्वीकार कर लेता है। वह विलास के सुरा स्वर्ण चक्र में पड़कर भी मानो अपने आत्मस्वरूप को पहिचानता हुआ लीला से एक बार कहता है—"परन्तु लीला, हम लोग कहाँ चले जा रहे हैं, कुछ समझ रही हो? समझ में आने की ये बातें हैं?" किन्तु लीला सुरा के साथ ही उसे अपने सौन्दर्य की घूटी पिलाकर उसे सर्वथा आत्मविभोर कर देती है और वह आँख बन्द कर द्वीप में नवीन सभ्यता के रूप में हत्या, व्यभिचार, विलासिता आदि के प्रचार और प्रसार में सहायक होता है। वह इतना बड़ा मद्यप हो जाता है कि मदिरा के अतिपान के कारण ही वह अन्य देश पर आक्रमण करने के लिए सैन्य-संचालन में भी सर्वथा असमर्थ हो जाता है। सुरा का प्रभाव उसके मस्तिष्क तक ही नहीं रहता वरन् उसका हृदय भी उससे आक्रांत हो जाता है। वह विलासी और निष्ठुर हत्यारा बन जाता है। वह लीला के समक्ष ही, मानो उसके प्रति अपने

पवित्र प्रेम पर अर्गला लगाता हुआ लालसा को अपनी अङ्कगामिनी बनाता है। लीला उसकी निष्ठुरता की चर्चा करती हुई स्वयं कहती है—"वह तो एक निष्ठुर हत्यारा हो गया है। उसे मृगया से अवकाश नहीं।"

विनोद दृढ़प्रतिज्ञ एवं पराक्रमी है। वह एक बार जिसे जो वचन दे देता है उस पर वह सदैव आरूढ़ रहता है। वह कामना को रानी मानकर उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है। विलास उसके स्वभाव की इसी विशेषता को परख कर उसे द्वीप का सेनापति नियुक्त करता है। उसके नायकत्व में द्वीप में सफल सैन्य-संग्रह होता है तथा न्याय और विग्रह आदि बड़ी सफलता पूर्वक सम्पादित होते हैं। वह बड़े उत्साह पूर्ण शब्दों में द्वीप निवासियों को स्वर्ण संग्रह के लिए उत्साहित करता है—'यदि वीर हो, तो चलो—वीर-भोग्या तो वसुन्धरा होती ही है। उस पर जो पादाघात करता है, उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।" इससे उसका रणोत्साह और पराक्रम भी प्रकट होता है।

विनोद वस्तुतः स्वयं दुःशील नहीं है। वह विलास द्वारा प्रचारित सुरा एवं स्वर्ण के प्रभाव से हृदय की सात्विकता को खोकर कुछ समय के लिए क्रूर, लोभी एवं विषयासक्त तो अवश्य हो जाता है, किन्तु ज्योंही कामना, विलास की सभ्यता का पर्दा फाश करती है, कि विनोद की भी आंखे खुल जाती हैं और वह भी विवेक के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर पुकार उठता है–'आओ, हम सब उस मधुर-मिलन के योग्य हों। उस अभिनय का मङ्गलपाठ पढ़ें।" विनोद के चरित्र में यह परिवर्तन यद्यपि आकस्मिक है, किन्तु द्वीप निवासियों की आशुपरिवर्तनशीला सरल प्रकृति के सर्वथा अनुरूप है।

विनोद का चरित्र सर्वथा व्यक्तित्व-शून्य नहीं है। सुहृद् मैत्री-

भावना, विश्वासपात्रता एवं पराक्रम आदि उसके स्वभाव की कुछ निजी विशेषतायें हैं जिनके कारण वह द्वीप में एक महत्वपूर्ण पद ग्रहण करता है। उसके चरित्र में दुर्गुणों का प्रादुर्भाव बाह्य प्रभाव जनित है। उसके दूर होते ही उसके चरित्र की निर्मलता प्रकट हो जाती है।

कामना

फूलों के द्वीप मे कामना सर्वप्रिय युवती है। कामना सी लड़की द्वीप भर मे नहीं है। द्वीपवासियों के उपासना-गृह का नेतृत्व उसी के हाथ में है। सभी स्त्री, पुरुष और बालक उसका सम्मान करते हैं। बालकों तक को खेल-कूद मे कामना का अभाव खटकता है। कामना, भावुक और सरल है किन्तु वह अपने हृदय की चचलता से आन्तरिक शान्ति और शीतलता खो बैठती है। वह अपने साथ ही द्वीप निवासियों को भी नैतिक पतन के गर्त मे बहुत दूर तक घसीट ले जाती है। कामना के स्खलन के साथ ही उसके द्वीप निवासियों का पतन होता है, तथा उसके सँभलने के साथ ही द्वीप का पुनुरुत्थान होता है।"

कामना के हृदय की चचलता का आभास नाटक में उसके प्रवेश करते ही प्राप्त होता है। वह द्वीप की निश्चेष्ट शान्ति मे आकुल सी रहती है। उसका प्रेमी सन्तोष यद्यपि उसके हृदय के समीप है फिर भी वह उसे केवल 'आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है,' और इसीलिए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती है—"अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी? नहीं।" वह लीला के सामने खेदयुक्त हो स्वीकार करती है—"मेरा हृदय रिक्त है। मैं अपूर्ण हूँ।"

कामना भावुक रमणी है। उसके हृदय में उद्दाम प्रेम की भावना अधिष्ठित है। पहिले वह सन्तोष के साथ अपने हृदय की समीपता का अनुभव करती है। किन्तु कामना की अस्थिर भावभङ्गियों से जब सन्तोष को उसके प्रणय-भाव की अनिश्चितता अनुभूत होती है तो वह उससे अलग रहने की अपनी इच्छा विनोद के सामने व्यक्त करता है। कामना अपने प्रति सन्तोष की इस झिझक का अनुभव कर कृतसंकल्प होती है—

"सन्तोष मुझसे डरता है, तो मैं भी उससे सबको डराऊँगी।"

विलास के रूप में कामना को आत्मतुष्टि का उपयुक्त साधन एवं आधार प्राप्त हो जाता है। द्वीप में विलास के प्रवेश करते ही, कामना उसके वैभवपूर्ण आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाती है और अपनी स्वाभाविक सरलता के अनुरूप वह सर्वतोभावेन उसके सामने आत्म-समर्पण कर देती है।

विलास के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर कामना अपने हृदय की भूख मिटाने के लिये आकुल हो उठती है। वह अपनी एक स्वगतोक्ति में कहती है—"मेरे भीतर का बाँकपन सीधा हो गया है। मेरा गर्व उसके पैरों पर लोटने लगा है।.... . विलास! तुम्हारे दर्शन में सुख भोगने के नये नये आविष्कारों से मस्तिष्क भर दिया गया है। क्लांति और श्रान्ति मिलने के लिए जैसे सकल इन्द्रियाँ परिश्रम करने लगी हैं—विलास!" वह विलास के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करती है—"मैं अपनी नहीं रह गई हूँ प्रिय विलास! क्या कहूँ।" कामना के प्रति विलास का मनोभाव स्वार्थयुक्त है। वह उसे अपने कार्य्य-साधन का अस्त्र ही बनाकर रखना चाहता है। वह कामना को 'एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी स्त्री' के रूप से ही देखता है। अतः वह यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता।" वह अत्यन्त कौशल से कामना को समझाता है—"तुम द्वीप भर में कुमारी बनी रहकर अपना प्रभाव विस्तृत करो। यही तुम्हारी रानी बने रहने के लिए पर्य्याप्त कारण हो जायगा।"

विलास को प्राप्त करने की कामना की आशाएं उस समय तक सर्वथा लुप्त हो जाती हैं जब वह लालसा के साथ विवाह बन्धन में बंध जाता है। कामना उस दृश्य को यूथ से अलग खड़ी हो बड़े खेद और आश्चर्य के साथ देखती रह जाती है। विलास की प्रतारणाओं से कामना का हृदय जर्जर हो जाता है। ब्याह का नाम सुनते ही मानों वह

तिलमिला कर व्यङ्ग्योक्ति में अपनी सखी से कहती है—"चुपमूर्ख! मैं पवित्र कुमारी हू। मैं सोने से लदी हुई, परिचारिकाओं से घिरी हुई, अपने अभिमान. साधना की कठिन तपस्या करूंगी अपने हाथों से जो विडम्बना मोल ली है, उसका प्रतिफल कौन भोगेगा? उसका आनन्द, उसका ऐश्वर्य और उसकी प्रशंसा क्या इतना जीवन के लिए पर्याप्त नहीं है।" कामना के इस कथन की व्यंग्योक्तियाँ द्वारा उसके हृदय की क्षोभ एवंआत्मग्लानि स्पष्टतया व्यजित होते हैं। विलास को हृदय देकर उसे जो आत्म विडम्बना भोगनी पड़ती है उसी की अभिव्यक्ति इस कथन मे है। सन्तोष के समक्ष कामना अपने दुखों के ज्वाला मुखी पर संयम का आवरण बड़ी कठिनता से डालती हुई केवल इतना ही कह पाती है— 'मेरे दुखों को पूछ कर और दुखी न बनाओ।" फिर भी इससे उसकी ऐकान्तिक वेदना का स्पष्ट बोध होता है।

विलास की प्राप्ति अभिलाषाओं मे कामना अपने पूर्व प्रणयी सन्तोष को सर्वथा विस्मृत नहीं कर देती। लीला जब सन्तोष को अपना पति निर्धारित कर उसके साथ विवाह करना चाहती है तो कामना उससे स्पष्ट ही कह देती है—"वह मेरा निर्वाचित है! मैं चाहे ब्याह करूँ या नहीं, परन्तु वह तो सुरक्षित रहेगा···।" विलास से सर्वथा निराश हो एवं उसकी वास्तविकता का अनुभव कर उसका त्याग कर देने पर कामना को अपना पूर्व प्रेमी सन्तोष प्राप्त हो जाता है जिससे वह यथार्थ रूप से सुखी होती है।

विलास के सम्पर्क में आते ही कामना का व्यक्तित्व हलका होने लगता है। वह, उसकी कुटिल मन्त्रणाओं को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती जाती है। स्वर्ण और मदिरा को वह बड़े उल्लास के साथ स्वीकार करती है और लीला, विनोद तथा अन्य द्वीप निवासियों से खुलकर उनका प्रचार करती है। वह विलास के स्वर्ण और मदिरा में आत्म-विभोर हो द्वीप की परम्पराओं का भी अतिक्रमण करने लगती है।

पवित्र पक्षियों के संदेश के स्थान पर वह द्वीपवासियों को नवीन पुरुष द्वारा पिता का सन्देश सुनने के लिये प्रेरित करती है। अपराध दण्ड आदि धारणाओं के प्रचार में वह प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। विलास की कुटिल योजनाओं को आँख बन्द कर स्वीकार करती हुई वह द्वीप की रानी बन जाती है और मन्त्री, सेनापति, न्यायालय, कारागर आदि की स्थापना में सहायक हो वह राज्यचक्र का पूरा स्वांग खड़ा कर देती है। वह स्वर्ण प्राप्ति के लिए अन्य देश पर आक्रमण कराती है। द्वीप के नैसर्गिक जीवन में इस नवीन सभ्यता के प्रवेश के कारण हत्या, व्यभिचार, द्वेष, स्वार्थ आदि का जब विषाक्त प्रभाव उग्र रूप में प्रकट होने लगता है तभी उसकी आँख खुलती हैं। वह अपने देशवासियों के समक्ष परम उत्तेजित होकर कहती है—"यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है, तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे, उतना ही अच्छा। (मुकुट उतारती हुई) यह लो, इस पाप-चिन्ह का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती। यथेष्ट हुआ। प्यारे देश-वासियो, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा से सिंचे हुए चमकीले स्वर्णवृक्ष की छाया से भागो।"

कामना विलास के सम्पर्क में आने पर अपना पूर्व गौरव भी बहुत कुछ खो देती है। वह अपने व्यवहारों से बहुतों की आलोचना एवं निन्दा का विषय बन जाती है। द्वीप की एक स्त्री उसकी आलोचना करती हुई कहती है—"केवल एक चमकीली वस्तु उसके सिर पर थी।... उसे सिर में बाँध कर कामना बड़ी इठलाती हुई सबसे बात कर रही है।" विवेक खुले शब्दों में कामना की निन्दा करता है—"मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई, महत्त्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी, अभिमान की मिट्टी की मूर्ति।"

यद्यपि यह यथार्थ है कि कामना ने विलास के सहवास में रह कर

अपने पूर्वरूप को बहुत कुछ नष्ट कर दिया, फिर भी उसके अन्तःकरण में स्वाभिमान एवं विवेक समय समय पर सजग हो जाते हैं। विनोद और लील, स्वर्ण से पराभूत हो जब विलास की दासता स्वीकार करते हैं तब मानों कामना तिलमिला कर कहती है—"नहीं, तुम इतने दीन होकर इस ज्वाला की भीख मत लो।" इसी प्रकार निरीह पशुओं की अकारण हत्या से आकुल होकर वह कहती है—"परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल रंगी जाकर भयानक हो उठी है, यहाँ का पवन भाराक्रांत होकर दबे पाँव चलने लगा।" हत्या, व्यभिचार आदि दुर्वृत्तियों के अतिचार से कामना का विवेक अधिक पुष्ट होकर सजग होता है और वह विलास के कृत्रिम उपकरणों एवं आडम्बरपूर्ण योजनाओं को एक साथ तिलांजलि दे देती है। कामना के उत्थान और पतन के साथ द्वीप का भी उत्थान-पतन होता है। सन्तोष के कथनानुसार वह द्वीप में यथार्थ ही बड़ी 'प्रभावशालिनी' स्त्री है।

लीला

लीला स्वभाव से चंचल एवं नवीन वस्तुओं तथा व्यक्तियों से शीघ्र प्रभावित होने वाली युवती है। वह कामना की अत्यन्त विश्वासपात्र सहचरी है। स्वर्ण को देखकर उसकी चमक से वह अत्यन्त प्रभावित होती है और उसकी प्राप्ति के लिये उसके हृदय में तीव्र उत्कण्ठा सजग होती है। वह कामना के कहने से मदिरा भी पान करती है तथा उसके स्वाद और मादकता के कारण उसके प्रति उसकी सतृष्ण लालसा सदैव जागरूक रहती है। लीला का व्यक्तित्व विशेष प्रभावशाली एवं महत्व-पूर्ण तो नहीं है किन्तु नारी समाज में कामना के पश्चात् द्वीप में उसका ही प्रभाव विशेष लक्षित होता है। कामना के बाद स्वर्ण और मदिरा को सर्वप्रथम अपनाने में उसी का स्थान है। विलास के निर्देश अङ्गीकार करने में कामना के पश्चात् वही अग्रणी है। वह मानों आँख बन्द कर विलास और कामना का अनुगमन करती है। लीला ही सर्वप्रथम कामना को रानी के रूप में स्वीकार करती है और समस्त द्वीप निवासी उसका अनुकरण करते हैं।

लीला पहिले तो विनोद को ही बहुत चाहती है पर कुछ समय के लिए उसका ध्यान उससे हट जाता है और सन्तोष को वह अपना पति बनाने के लिए उतावली प्रतीत होती है। वह बड़ी ललक से सन्तोष से कहती है—"हाँ प्रियतम ! इस पूर्णिमा को हम लोग एक हो जाँयगे।" किन्तु कामना उसके स्वप्न को शीघ्र ही भङ्ग कर देती है। कामना से यह अवगत कर कि सन्तोष उसका निर्वाचित है, वह विनोद से ही विवाह करने को बाध्य होती है। विवाह हो जाने पर विनोद के साथ लीला का दाम्पत्य जीवन अबाध रूप से व्यतीत होता है।

लीला स्वर्ण और सुरा के प्रभाव से इतना मदान्ध हो जाती है कि वह वन-लक्ष्मी के उपदेशपूर्ण आदेशों की सर्वथा उपेक्षा कर देती है। वन-लक्ष्मी उसे यह स्पष्ट संकेत देती है—"अभिशाप तो तुम स्वयं इस द्वीप को दे रही हो।" परन्तु लीला उस पर ही ईर्ष्या और जलन का अभियोग लगा कर उसकी भर्त्सना करने को उद्यत होती है। अन्त में वन-लक्ष्मी उसे स्पष्ट रूप से समझाती हुई कहती है—"मेरी प्यारी-लीला! मान जा। कहे जाती हूँ, जिस दिन तूने उस चमकीली वस्तु के लिये हाथ पसारा, उसी दिन इस देश की दुर्दशा का प्रारम्भ होगा।" वन-लक्ष्मी के इस कथन से द्वीप के पतन में लीला का भी दायित्व प्रकट होता है। लीला स्वर्ण एवं सुरा द्वारा सुख प्राप्ति में इतनी तल्लीन है कि वह विनोद की इस जिज्ञासा की भी अवहेलना कर देती है—"लीला, हम लोग कहाँ चले जारहे हैं, कुछ समझ रही हो?" किन्तु आगे चल कर जब वह लालसा को अपनी विषयवासना में विनोद को आवेष्टित करता हुआ देखती है और इस प्रकार जब उसके ही स्वार्थों में ठोकर लगती है तभी उसकी आँख खुलती है। वास्तविकता का यथार्थ अनुभव होने पर वह कामना के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर कहती है—"जितने भूले भटके होंगे, वे इन्हीं पागलों के पीछे चलेंगे। हम अपने फूलों के द्वीप से काँटों को चुनकर निकाल बाहर करेंगे।" इस प्रकार लीला आत्मसुधार की ओर अग्रसर हो अपने द्वीप-निवासियों के सुसंस्कारों के पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त करती है।

लालसा

शान्तिदेव की स्त्री लालसा अपने पति की दस्युओं द्वारा हत्या होने के पश्चात प्रभूत स्वर्णराशि की स्वामिनी हो जाती है। सम्पत्ति प्राप्ति के साथ उसके हृदय में अधिकार एवं महत्व प्राप्त करने की आकांक्षा तीव्र रूप से जागृत होती है। वह अपनी कार्य सिद्धि के लिए विलास को ही अपना उपयुक्त साधन निर्धारित करती है—"मैं भी रानी हो सकती हूँ, यदि विलास को—हाँ, क्यों नहीं।" वह अपने वाक्-विभ्रम, सङ्गीत और स्वर्ण की चमक से विलास को अपनाने में पूर्ण सफल होती है। अपराजित विलास, लालसा के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है—"मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई, परन्तु वह झूठा गर्व था। आज—"

विलास को अपने वश में करके लालसा द्वीप का संचालन सूत्र मानों कुछ समय के लिए अपने हाथों में ले लेती है। पड़ोसी प्रदेश में प्रभूत स्वर्णराशि का प्रलोभन दिखाकर वह विनोद और विलास के नायकत्व में उस पर सैनिक आक्रमण कराती है। उसकी प्रेरणा से शान्तिदेव के हत्यारों का न्याय-विधान होता है और अत्यन्त निर्ममता-पूर्वक उनकी हत्या की जाती है। फूलों के द्वीप में आधुनिक सभ्यता के प्रतीक धर्मसंघ, न्यायालय एवं विषयवासना के विविध उपादानों की स्थापना में लालसा का बहुत बड़ा हाथ है।

लालसा अपने कार्य-साधन में अत्यन्त पटु है। वह बड़े कौशल से विलास को सर्वथा अपनी मुट्ठी में करती है। उसकी विषय-वासना अत्यन्त तीव्र है। विलास को युद्ध-भूमि में भेजकर वह विनोद के साथ विषय-सुख प्राप्त करने के लिये तत्पर होती है। इतना ही नहीं, वरन् वह शत्रु-देश के सेनापति को देखकर उससे भयभीत होने के बजाय उस पर अनुरक्त हो जाती है। शत्रु-सेनापति उसकी प्रणय-भिक्षा को ठुकरा देता है। लालसा कुटिल कौशल द्वारा उसे उसकी अपहृत पत्नी वापिस दिलाने का वचन देकर उस पर बलात्कार का झूठा अभियोग लगाती है और वह उसकी निर्दयता पूर्वक हत्या करा देती है। वैभव और वासना के पङ्क मे फंसी हुई निर्लज्ज नारी के सभी दोष और दुर्गुण लालसा में मानों कूट कूट कर भरे हैं।

फूलों के द्वीप में विलास के गौरव-विहीन होने के साथ ही लालसा का भी प्रभुत्व मिट जाता है और वह विलास के साथ ही 'अनन्त समुद्र में, काल के काले परदे में,' स्थान पाने के लिए द्वीप से निकल पड़ती है।

कुटिलता, क्रूरता और विलासिता में लालसा अप्रतिम है। विलास ऐसे छद्मवेशी एवं कुटिल व्यक्ति को अपने वाक्-भ्रम तथा कटाक्षपात से शक्तिहीन कर उसे अपना सर्वथा अनुगत बना लेना उसके व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता को सूचित करता है। महत्वाकांक्षाओं की दौड़ में भी वह विलास से पीछे नहीं है। पड़ोसी प्रदेश पर आक्रमण करवाने तथा नव-नगर-निर्माण में लालसा का ही प्रमुख हाथ है। लालसा की विला-

सिता के सम्मुख तो विलास भी मात खा जाता है। वह उसे शत्रु-सेनापति से प्रणय-भीख माँगते हुए देखकर भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं करता। जिस तरह कामना, विलास के हाथ की कठपुतली बन कर अपना व्यक्तित्व खो बैठती है उसी प्रकार विलास भी लालसा को अपना कर आत्मगौरव से वञ्चित हो जाता है। लालसा अपने साथ विलास को भी ले डूबती है।

करुणा

'कामना' नाटक मे करुणा चरित्र का विकास अपेक्षाकृत स्वल्प होने पर भी उसका चित्रण बड़ा मर्म स्पर्शी है। वह शान्तिदेव की बहिन है। शान्तिदेव की मृत्यु के पश्चात् लालसा उसकी समस्त सम्पत्ति पर अधिकार कर लेती है। करुणा द्वीप मे नितान्त अकिञ्चन एवं उपेक्षित जीवन व्यतीत करती है। द्वीप मे 'जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य' हो जाने के कारण उसे जङ्गली फलों पर ही निर्वाह करना पड़ता है। वह सन्तोष के समक्ष अपनी दयनीय दशा का हृदय-द्रावक वर्णन करती हुई कहती है—"मैं अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटीर में पड़ रहती हूँ।"

समस्त द्वीप में करुणा की दयनीय दशा से द्रवित होकर उसके प्रति सच्ची सहानुभूति करने वाला व्यक्ति केवल सन्तोष है। वह उसे अपनी बहन बनाकर उसके दुःखों में हाथ बटाने का वचन देता है। सन्तोष अपने शारीरिक कष्टों की किञ्चित परवाह न कर उसके खेतों में काम करता है। करुणा भी सन्तोष के प्रति बड़ा ममत्व रखती है। सन्तोष के घायल होने पर वह उसे चिकित्सक के यहाँ अनेक कठिनाइयों का सामना करती हुई लेजाती है। द्वीप के विलासी और स्वार्थी युवक करुणा और सन्तोष की दुःखपूर्ण परिस्थिति से लाभ उठाना चाहते हैं। क्रूर, सन्तोष की चिकित्सा के बहाने उसके रोग को बढ़ाकर उससे लम्बी रकम ऐंठने की चेष्टा करता है और दम्भ, करुणा को प्रमदा के देवदासी दल में सम्मिलित करने का कुचक्र रचता है। विवेक की सहायता से दोनों के प्राण और सम्मान की रक्षा होती है।

नाटकीय दृष्टि से करुणा का चरित्र अत्यन्त सामान्य कोटि का है।

नाटक के वस्तु—विकास में उसकी जीवन घटनाओं का विशेष योग नहीं है और सन्तोष के चरित्र को छोड़कर नाटक के किसी अन्य प्रधान पात्र के चरित्र-विकास में भी उसका प्रभाव नहीं है । नाटककार ने वस्तुतः नवीन सभ्यता के विकास में सात्विक नारी-जीवन की कष्टमय स्थिति का मार्मिक निदर्शन करुणा के चरित्र में कराया है । करुणा के कष्टमय जीवन का हृदयग्राही प्रत्यक्षीकरण होने से वह सामाजिकों की सहानुभूति प्राप्त करने में यथार्थतः पूर्ण सफल है ।